सह–मत

TAGORE INTERNATIONAL
LITERATURE & ARTS
FESTIVAL
विश्व रंग
BHOPAL (INDIA)

सह–मत

संतोष चौबे के उपन्यास
'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल'
पर केन्द्रित विमर्श

सम्पादक
मुकेश वर्मा
कुणाल सिंह

आईसेक्ट पब्लिकेशन

ISBN : 978-81-964699-9-3

सह-मत

संतोष चौबे के उपन्यास
'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल'
पर केन्द्रित विमर्श

सं. मुकेश वर्मा, कुणाल सिंह

मूल्य : 250 रु.
प्रथम संस्करण : 2023
© **आईसेक्ट पब्लिकेशन**

आवरण : आईसेक्ट पब्लिकेशन कला प्रभाग

प्रकाशक एवं मुद्रक : आईसेक्ट पब्लिकेशन
ई-7/22, एस.बी.आई., अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016 (भारत)
फोन : 0755-4851056
ईमेल : aisectpublications@aisect.org

SAH-MAT
Edited by Mukesh Verma, Kunal Singh

इस पुस्तक का सर्वाधिकार सुरक्षित है। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को, फोटोकॉपी एवं रिकार्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनःप्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

साधो, सबद साधना कीजै

'लेकिन, उधर उस ओर,
कोई, बुर्ज के उस तरफ जा पहुँचा,
अँधेरी घटियों के गोल टीलों, घने पेड़ों में
कहीं पर खो गया,
महसूस होता है कि यह बेनाम
बेमालूम दर्रों के इलाके में
(सचाई के सुनहरे तेज अक्सों के धुँधलके में)
मुहैया कर रहा लश्कर;
हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा
संकल्प-धर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर,
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रगट होकर विकट हो जायेगा।'

–मुक्तिबोध

शब्द की महिमा और मेधा को पहचान कर ही अन्तरराष्ट्रीय 'विश्वरंग' महोत्सव के दौरान जारी किये गये चार्टर-2019 में रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय और सहयोगी विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत कार्यरत समस्त वनमाली सृजनपीठ, सम्बन्धित इकाइयों, आनुषंगिक केन्द्रों और संस्थानों द्वारा समवेत रूप से इस प्रतिज्ञा को गहराई तथा गम्भीरता से सम्पुष्ट किया गया कि शिक्षा, साहित्य और कलाओं की जीवन्त उपस्थिति को शब्द और उसके अन्य सृजनधर्मी माध्यमों के सजग, सक्षम और सार्थक रूप में दर्ज करने के रचनात्मक प्रयासों का सिलसिला अनवरत् रूप से जारी रखा जावेगा। इसके परिपालन में साहित्य के क्षेत्र में पुराकालीन और समकालीन रचनाओं के संरक्षण तथा दस्तावेजीकरण पर निश्चयात्मक तौर पर ठोस

कार्यवाही किया जाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया।

उपरोक्त के क्रम में 'कथा मध्यप्रदेश', 'कथादेश', 'कथा भोपाल', 'विज्ञान कथा-कोश', 'विज्ञान कविताकोश', बालगीतों का वृहत् संकलन आदि अनेक ग्रन्थों के अलावा अनुवाद की विविध किताबों का सम्पादन और प्रकाशन किया गया तथा 'कथाविश्व', 'कथाभारत', 'कथाप्रवास', 'कवितादेश', 'कविता मध्यप्रदेश', 'व्यंग्य मध्यप्रदेश' के अतिरिक्त अन्य अनेक रोचक और अकादमिक विषयों पर एकाग्र परियोजनाओं पर काम किया जा रहा है जहाँ अपनी बहुरंगी भावों और भूमिकाओं में शब्द का अनहद नाद निरन्तर गूँज रहा है। भारतीय साहित्य के सुपरिचित हस्ताक्षर और संस्कृतिकर्मी संतोष चौबे के नेतृत्व में एक सुगठित टीम इस महती काम को अंजाम दे रही है।

ध्यान से देखा जाए तो सहज ज्ञात होगा कि प्रारम्भ से ही इस विश्वविद्यालयीन समूह की मूल अवधारणा में पुस्तक के माध्यम से शब्द को केन्द्र में रखा गया और उसके पठन-पाठन, लेखन और अनुवाद, शोध तथा अनुसन्धान के साथ-साथ उस पर संवाद तथा विमर्श को अवसर देने तथा विस्तारित करने की सुदीर्घ नीति पर अमल किया जा रहा है। इस हेतु विश्वविद्यालयों ने बहुआयामी और बहुरंगी कार्यक्रमों का नियोजन सफलतापूर्वक करते हुए महानगरों से लेकर दूरस्थ अंचलों में स्थित ग्रामों तक प्रति वर्ष 'पुस्तक यात्राओं' का आयोजन कर शब्द के गौरव, साक्षरता की गरिमा और पुस्तक के महत्त्व को प्रेरित, प्रतिपादित और प्रोत्साहित किया और उसी मान के साथ लोकबोलियों और उनके साहित्य तथा कलाओं को बहुविध प्रतिष्ठा दी। आज इन विश्वविद्यालयों को यह सहज सन्तोष और आत्माभिमान हासिल है कि वे विविधधर्मी रचनात्मक पुस्तकाकार शब्दों के नेतृत्व में पाठकों और लेखकों का एक व्यापक नेटवर्क बनाने में सक्षम व समर्थ हुए हैं।

देश और समाज के जैसे ताजा हालात हैं, पुस्तकों पर चर्चा इस वक्त की अहम जरूरत है। एक लोकतान्त्रिक देश और विकासोन्मुख समाज में एक नागरिक का आत्म-गौरव उसके द्वारा पढ़ी गयीं किताबों के उन शब्दों से निर्मित होता है जो उसे सगुण तर्क, विवेकपूर्ण विश्लेषण और न्यायिक निष्कर्षों तक, बिना लाग-लपेट और छल-कपट के, पहुँचने में मददगार होती हैं। तब वह समझ पाता है कि दरअसल देश-प्रेम क्या होता है, राष्ट्र-भक्ति किसे कहते हैं, नागरिक के दायित्व क्या हैं और देश के विकास के लिए किन बुनियादी जरूरतों को पूरा करने तथा किन समस्याओं को प्राथमिकता के आधार पर हल करना आवश्यक है और किन नारों और प्रचारों से बच के रहना है। पुस्तकों से प्राप्त इस प्रशिक्षण से ही वह अपने

देश और समाज के सर्वोत्तम विकास में अपना महत्तम योगदान दे पाता है। दरअसल पुस्तकें प्रजातन्त्र की प्राथमिक पाठशालाएँ हैं।

पुस्तकों में अभिव्यक्त शब्दों की इस शक्ति को पहचान कर ही उनके प्रकाशन, अभिवृद्धि और विस्तारण-प्रक्रिया को लेकर इन विश्वविद्यालयों में बहुत सारी अभिनव परियोजनाओं पर काम करते हुए साहित्य, शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में, विशेषकर सामाजिक उद्यमिता में किये जा रहे नवाचारों पर ध्यान देने की बात स्वाभाविक रूप से उठी और तय किया गया कि ऐसी क्लासिक कृतियों पर विषद प्रकारों से आम बातचीत और विमर्श हों जो बँधी-बँधाई लीक से हटकर एक नये किस्म की सोच को आगे कर और समकाल की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों की तार्किक विवेचना से अब तक के अनबूझे रास्तों की दिशा प्रशस्त कर सकते हैं। इस दायित्व-बोध के अधीन आईसेक्ट पब्लिकेशन ने निजी प्रेस की स्थापना कर कई किताबों का प्रकाशन किया, चर्चाएँ आयोजित कीं और दूसरे माध्यमों के अलावा वनमाली सृजनकेन्द्रों की मार्फत उनका दूर-दूर तक फैलाव किया। विश्वविद्यालयों द्वारा अपने सभी संस्थानों में आयोजित साहित्यिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और बौद्धिक कार्यक्रमों, समारोहों, संगोष्ठियों और वार्ताओं में देश-विदेश के प्रतिष्ठित तथा विषयवस्तु विशेषज्ञों को आदरपूर्वक आमन्त्रित कर सम्मानित किया गया, उनके व्याख्यानों और वार्ताओं को ध्यानपूर्वक सुना गया और उनके द्वारा व्यक्त किये गये शब्दों, विचारों तथा संवादों को तकनीकी व्यवस्था के अन्तर्गत स्वरबद्ध और लेखनीबद्ध कर उनके दस्तावेजीकरण को सुनिश्चित करने की व्यवस्था निर्धारित की। इस तरह ज्ञान के विस्तृत प्रचार-प्रसार के साथ रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय और उसके सहयोगी विश्वविद्यालयों ने समूहबद्ध काम करते हुए देश-विदेश से लेकर ग्रामीण और सुदूर आदिवासी अंचलों के लक्षित-अलक्षित नामचीन कवि, कथाकारों, लेखकों तथा कलाकारों की रचनाओं का कम समय में वृहत् संकलन कर एक ऐसी अनुपम बौद्धिक सम्पदा अर्जित की है जिसके कारण आज उन्हें शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में अद्वितीय ज्ञान-स्थली होने की सर्वमान्य प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

हमारा यह भी मानना है कि पुस्तकों के रूप में समायोजित शब्दों की यह बौद्धिक सम्पदा पुस्तकालयों या यशस्वी संस्थानों की जर्जर अलमारियों में कैद करने के लिए नहीं है, जैसा कि हम में से अनेक मित्रों ने ऐसे शर्मनाक दृश्य देखकर इस दुःख को महसूस किया है। पुस्तकें मनुष्य को मुक्त करती हैं और वे भी ताजी हवा तथा प्रसन्न वातावरण चाहती हैं जो उन्हें समानधर्मा विद्वानों की

सोहबत में ही मिल सकता है। इसलिए ही किताबों पर चर्चा, उनकी समीक्षा और उनके अन्त:पाठ पर बहस-मुबाहिसे हमारे एजेंडे में सबसे ऊपर होते हैं।

इसी क्रम में आज हमारे सामने सुख्यात उपन्यासकार संतोष चौबे का ताजा और विषय वस्तु के मान से कुछ अलग और अनूठा उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक-होल' है, इस मायने में कि वह भारतीय उपन्यास की पूर्व प्रचलित धारणाओं से अपने को मुक्त कर एक अलहदा शैली और प्रयोजनयुक्त शिल्प में उस वैचारिक संघर्ष को केन्द्र में रखता है जो एक विकसित हो रहे देश के सामने उसके अस्तित्व और अस्मिता का प्रश्न बनकर बिलकुल सम्मुख खड़ा है। मगर दु:खद यह कि कुछेक समाज-विज्ञानियों और अर्थ-शास्त्र के विद्वानों को छोड़कर इस मुद्दे पर उन महानुभावों के बीच चर्चा ही नहीं है जो राष्ट्र और समाज के सर्वांगीण विकास के चिन्तन में बुनियादी समस्याओं को सिरे से ही भूल गये हैं या इस कदर भोले हैं कि जतन से रटाई गयी शब्दावलियों के इतर कुछ और याद ही नहीं आ पाता। लेकिन ऐसे भी प्रबुद्ध और जागरूक पाठक बहुतायत में हैं जो राजनैतिक जुमलेबाजियों को परे सरकाकर देश के वर्तमान कुल परिदृश्य पर गहरी निगाह रखते हैं और जिम्मेदारी से बहुत कुछ बेहतर और जरूरी पढ़ना चाहते हैं। इस नवनीत अनुभव की पुष्टि सजग और सुधी पाठकों के उन शब्दों, पत्रों, मोबाइली सन्देशों और तात्कालिक टिप्पणियों से हुई जो उपन्यास के आने के बाद लगातार आना शुरू हुईं। यह इस बात की प्रेरणा बनी कि एकबारगी इस विषय-विशेष पर बड़े पैमाने पर विमर्श किया जाना प्रासंगिक और आवश्यक हो गया है। इस चर्चा को एक व्यापक फलक देने के उद्देश्य से हिन्दी जगत के कुछ जाने-माने समीक्षकों से उनके विचार आमन्त्रित किये गये, जिनके बारे में सार्वजनीन निश्चित धारणा है कि वे कृति के सभी आयामों पर सम्यक् रूप से विचार कर ही सुचिन्तित समीक्षा करते हैं। इस तरह एक और प्रति-कृति तैयार हुई जिसमें अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप नामवर वरिष्ठ समीक्षकों से लेकर उन युवा समीक्षकों की शमूलियत की गयी जो रचना के तर्क पर गहरी नजर रखते हुए उसके अनुषंगी कला-उपादानों को दृष्टि-ओझल नहीं होने देते।

परम्परा से हटकर और परम्परा में समाहित यह उपन्यास बहुत नाटकीय घटनाओं और पेंचीदगियों की दिलचस्प दास्तानगोई से बचते हुए बिलकुल 'आज' की एक सीधी-सादी कथा को उसके जटिलतम अर्थों और आशयों में निर्भीक बयान करता है, जिसकी शुरुआत एक स्वप्न से होती है और अन्त भी लगभग एक स्वप्न में, लेकिन युवा आकांक्षाओं और क्रूर यथार्थ की जद्दो-जहद में देश के वर्तमान और

भविष्य को निगल रहे उस ब्लैक-होल की असली शिनाख्त आखिर हो ही जाती है, जिसे सामान्यत: जन-समाज देख नहीं पा रहा है और कारपोरेट का खेल कभी सत्ता और कभी सरकार के दलालों की आड़ में बेखौफ जारी है। यह समय खुले उपनिवेशवाद का नहीं रहा, अब नये किस्म का आर्थिक साम्राज्यवाद मोहक मुखौटों के साथ जनता के सपनों पर शोषण का शिकंजा लगातार कसे जा रहा है जिसे भले लोग नियति मानकर स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं। इस दुष्कथा में सत्ता का भ्रष्ट आचरण, सरकारों की विकास-विरोधी नीतियों और प्रतिष्ठित दलालों की लोलुपता की सर्वग्रासी कार्य-प्रणाली के संयुक्त हमले के सामने आम जन की उम्मीदें और उसको मूर्त-रूप देने की बहुसंख्यक युवा वर्ग की बेचैनी, निराशा और छटपटाहट रेशे-रेशे साफ नजर आती है जो आज के भारत की जिन्दा तस्वीर बनाती है। महाकवि मुक्तिबोध की कविता है कि–

'मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है,
हर-एक छाती में आत्मा अधीरा है,
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है,
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है,
पल-भर में सबसे गुजरना चाहता हूँ,
प्रत्येक उर में तिर जाना चाहता हूँ,
इस तरह खुद ही को दिये-दिये फिरता हूँ,
अजीब है जिन्दगी!
बेवकूफ बनने के खातिर ही
सब तरफ अपने को लिये-लिये फिरता हूँ...'

महाकवि की पीड़ा जन की पीड़ा है। उपन्यास के कथा-नायक कार्तिक की पीड़ा भी यही है। संतोष चौबे ने क्रूर काल-कथा के एक पृष्ठ को ही खोला है और जिसमें से झरते दु:ख तथा निराशा के गहन अन्धकार में फिर भी एक बहुत क्षीण किरण हल्के से कौंध जाती है। संतोष ने शब्दों के माध्यम से एक विचार में रोशनी को देखा और उसे कथा में पिरोकर एक उम्मीद की अभ्यर्थना की। यह कोरा आशावाद नहीं है बल्कि मनुष्य जाति की अन्तरात्मा में सदियों से प्रज्जवलित उस आवाज की धड़कन है जो उसे आदिम युग से आज तक ले आ सकी। हालाँकि संघर्ष सतत् और अनन्त हैं, लेकिन मनुष्य की जिजीविषा भी अजर-अमर

है। लेखक का यह मन्तव्य ही रचना को कालजयी बनाता है।

मुझे लगता है कि उपन्यास के मुताल्लिक मेरे बहुत कुछ कहने से बेहतर है कि दिग्गज समीक्षकों के विचारों को आदि से अन्त तक मनोयोग से पढ़ा जाए। मेरी प्रसन्नता है कि संग्रह में संकलित सभी समीक्षाओं में उपन्यास के नैरेटिव, कथ्य की संरचना, कहन की शैली, भाषा के अन्दाज और अभिव्यक्ति के साथ उपन्यास के मूल मन्तव्य पर धारदार विमर्श किया गया है और सराहना के साथ-साथ असहमतियों पर भी खुलकर बात की गयी है जो हमारा आन्तरिक लक्ष्य भी रहा है।

इस पुस्तक को तैयार करने का उद्देश्य 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' जैसी एक जरूरी कृति का समुचित मूल्यांकन-भर है। इसमें शामिल प्रत्येक लेख अपनी तरह से इस कृति को देखने का यत्न करता है। हम इनके लेखकों के आभारी हैं।

इस मौके पर सुपरिचित कथाकार एवं 'रचना समय' के सम्पादक हरि भटनागर का तहेदिल से शुक्रिया अदा करना मेरा फर्ज भी है और सम्बन्धों का तकाजा भी, कि हरि भाई ने बहुत परिश्रम और मनोयोग से इस परियोजना को सम्पन्न करने में महती योगदान दिया। हमारा प्रयास होगा कि भविष्य में इस प्रकार के आकलन की और भी पुस्तकें आयें। मैं सम्पादन विभाग के अपने समस्त साथियों का भी आभारी हूँ, जिनके समुचित श्रमयोग से इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हुआ।

–मुकेश वर्मा

'सह-मत' का पूर्वालोक

संतोष चौबे हिन्दी के विरल रचनाकार हैं। उनकी रचनाओं को देखते हुए सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इनमें समय-समय पर न सिर्फ अपने समकाल की रूढ़िबद्ध परिपाटियों को तोड़ने का माद्दा दिखता है, बल्कि अपने तईं उसे पुनःसंस्कारित और आवश्यकतानुरूप पुनर्नवा करने का संकल्प भी लक्षित होता है। यह कहा जाए कि अपने शुरुआती दो उपन्यासों– 'राग केदार' और 'क्या पता कॉमरेड मोहन' से उन्होंने हिन्दी के लिए सर्वथा नयी जमीन तलाशी, तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। पिछली सदी पर जिन विचारधाराओं का दबदबा कायम था, अन्तिम दशक में उनमें से एक के इस प्रकार विघटित हो जाने से जिस प्रकार की विकल्पहीनता का नजारा आम हुआ, उसने रचनाकारों, विशेषकर हिन्दी रचनाकारों को हतप्रभ कर दिया था। संतोष चौबे ने खासकर अपने दूसरे उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' की मार्फत उस विचारधारा की रूढ़ियों को रेखांकित करते हुए एक प्रकार से उसके विघटन के कारणों की भी पड़ताल की थी। इस अर्थ में इसे न सिर्फ ईमानदार आत्मालोचन, बल्कि रचनात्मक साहस के उदाहरण के तौर पर भी देखा जा सकता है। तीसरे उपन्यास 'जलतरंग' का कथ्यरूप संगीत के इर्द-गिर्द बुना गया है। हिन्दी में संगीत, वह भी शास्त्रीय संगीत के इतने बड़े स्तर पर रचनात्मक रूपान्तरण को भी विरल घटना के तौर पर रेखांकित करना चाहिए।

मुद्दतों बाद उनका चौथा उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' प्रकाशित होकर आया है। संतोष चौबे के अन्य उपन्यासों को देखते हुए इसे इकहरा कहना चाहिए, हालाँकि हिन्दी के मुहावरे में इकहरा होना किसी हद तक असम्पूर्ण होना माना जाता है। इस नुक्ते पर जोर देकर कहना चाहिए कि यह इकहरा तो है, किन्तु एकायामी नहीं। यह अपनी संरचना में तमाम तरह के सम्भावित भटकावों से निर्लिप्तता की हद तक बचते हुए अपने कथानक के प्रति ईमानदार है। उपन्यासकार को इस रचना में पहला शब्द दर्ज करते समय ही यह भली-भाँति मालूम है कि

उसका गन्तव्य और मन्तव्य क्या है। कथात्मक स्फीति भी एक प्रकार का लोभ ही है, जिसका संवरण प्राय: दुष्कर होता है। आप अपनी विषय-वस्तु के प्रति पूर्ण निष्ठा के बगैर इसे सम्भव नहीं कर पाते। यह समय बड़बोलेपन का समय है। एक तरह की उतावली बड़बड़ से हमारा आसपास भरा पड़ा है। बड़े-बड़े दावे किये जाते हैं, शाब्दिक वाग्जाल फैलाये जाते हैं। चारों ओर मोटे दबंग विशेषणों के पोस्टर और बैनर लटक रहे हैं। ऐसे समय में 'संक्षिप्ति' को किसी नैतिक मूल्य की तरह लेना चाहिए। संतोष चौबे के इस उपन्यास की यह विशेषता है कि इसमें किसी प्रकार के शाब्दिक छलावे नहीं, अनावश्यक स्फीति नहीं, कथानक का निरंकुश प्रसार नहीं। अपनी रचनात्मकता में 'टू द प्वाइंट' होना इस कृति से भली तरह सीखा जा सकता है।

उपन्यास का प्रारम्भ एक सपने से होता है और इस सपने का 'टेरर' पूरे कथात्मक वितान पर हावी है। हॉरर स्टोरीज के बारे में यह सत्य है कि डराने के सूत्र स्वयं इनमें अन्तर्निहित न होकर इनसे हमारी सुरक्षित दूरी में छिपे होते हैं। आप अपने घर के सुरक्षित आकारों में जिस हद तक डराये-धमकाये जा सकते हैं, उतना उस खुले खतरनाक में सशरीर शामिल होकर नहीं। जिन घटनाओं के संयोजन से टेरर को क्रियेट किया जाता है, हम बतौर पाठक और श्रोता उनसे जितनी दूर और महफूज होंगे, हमें उनसे उतना ही भय लगेगा। संतोष चौबे इस 'टेरर' में अपने पाठकों को लोकतान्त्रिक तरीके से शामिल करते हैं, इसलिए वह इसे पढ़ते हुए डरता नहीं, हालाँकि इसकी कथा-संरचना में आधुनिक विश्व की तमाम दहशतें अन्तर्गुम्फित हैं। किसी व्यक्ति के द्वारा देखे गये सपनों का अपहरण कर लिया जाए और ठीक उसके सामने उसे अपना बनाकर प्रस्तुत किया जाए, इससे ज्यादा दर्दनाक और भयानक उस व्यक्ति के लिए और क्या हो सकता है! इस उपन्यास के नायक कार्तिक के साथ कुछ ऐसा ही होता है। उसकी परियोजना को, जिसे उसने पिछले दस सालों में दिन-रात एक करते हुए खड़ा किया था, एक झटके में सरकार द्वारा हथिया लिया जाता है। यह किसी से नहीं छिपा कि भूमंडलीकरण के बाद तमाम विकसित देशों की आर्थिक नीतियों के अनुसरण और उनके द्वारा निर्मित मॉडल के जस-का-तस इंस्टॉलेशन का एकमात्र उद्देश्य लूट-खसोट और प्राकृतिक संसाधनों का अबाधित दोहन है। 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' यह दिखला सकने में कामयाब होता है कि अपने इस मकसद को पूरा करने में 'सरकार' किसी भी कार्पोरेट से कम नहीं, बल्कि उसके पास 'सरकार' होने की एक ऐसी वैधता है जिसके बूते वह मौका पड़ने पर किसी भी कार्पोरेट से कहीं ज्यादा अमानवीय और

क्रूर साबित हो सकती है। संतोष चौबे अपने एक पात्र की मार्फत ठीक ही कहते हैं– ''और तुम क्या समझते हो, सरकार कोई समाज सेवा कर रही है? पार्टनर अब सरकार ही सबसे बड़ी कार्पोरेट है। जनता का धन, उसकी मेहनत, उसकी ऊर्जा अन्ततः सरकार में या किसी बड़े कार्पोरेट में ही समाहित हो जाती है।'' मन्त्री जी, राजशेखर और त्यागी जैसे पात्रों के लोलुप और चिकने जेस्चर्स यहाँ सुस्पष्ट होकर उभरे हैं।

सरकारी चरित्र के इन प्रतिनिधियों को इस बात का अहसास है कि उनकी मंशा स्वरोजगार के कार्तिक के 'मल्टीपरपज' मॉडल को हथियाये बिना पूरी नहीं होगी। इसलिए वे शातिर सौदागर की नाईं उसे ठगते हैं। कार्तिक सन्न रह जाता है। मूल आइडिया उसी का था, लेकिन सरकार इसे अपना बनाकर पेश करती है और उसे अन्य लोगों के साथ कम्पीट करने के लिए छोड़ देती है। उसके श्रमयोग को देखते हुए उसकी कोई बहुत बड़ी माँग भी नहीं– ''सर, मैं सोच रहा था कि हमारी संस्था को कुछ बेहतर स्थान दिया जाएगा। आखिर यह मॉडल हमने पिछले दस साल लगाकर विकसित किया है। मेरा बहुत सारा समय और पूँजी भी उसमें खर्च हुए हैं। मुझे लगता है कि हमें कंसल्टेंट के रूप में लिया जाना चाहिए जिससे प्रोजेक्ट को सही दिशा मिल सके।'' लेकिन सवाल तो यह उठता है कि इस प्रोजेक्ट को सही दिशा देने में रुचि किसे है! रुचि तो इसके नाम पर विश्व बैंक से फंड लेकर उसे हड़प जाने में है। कार्तिक को टका-सा जवाब थमा दिया जाता है– ''देखिये कार्तिक जी, मैं आपके काम की बहुत इज्जत करता हूँ। पर आपके आइडिया का कोई पेटेंट तो है नहीं। अब वह पब्लिक डोमेन में आ गया है। प्रोजेक्ट भारत सरकार का है और वर्ल्ड बैंक फंडेड है तो हमें कंसल्टेंट भी वह लेना होगा जो वर्ल्ड बैंक सुझायेगा। कोई इंटरनेशनल कंसल्टेंट, जैसे पीएमजी या वाटर हाउस या ऐसा ही कुछ...''

इन सबसे कार्तिक का विचलित तक न होना उसकी अदम्यता और जिजीविषा और सबसे बढ़कर उसका खुद पर विश्वास का सबूत है। वह टूटता नहीं, फीनिक्स की तरह अपनी ही राख से पुनः उठ खड़ा होता है। वह रचनात्मक हिस्सेदारी की बात भूलकर अन्य सर्विस प्रोवाइडरों की तरह ही उस टेंडर को भरता है जिसे डिजाइन ही कुछ इस प्रकार किया गया है कि उसकी शर्तें किसी भी रूप में पूरी न होने पायें। और फिर जब वह इसमें भी सफल हो जाता है तो पुनः सरकार उसके पास पहुँच जाती है, मदद माँगने।

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' को संतोष चौबे की प्रतिनिधि कहानी 'नौ

बिन्दुओं का खेल' की अगली कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। और यह अनायास हो गया है, ऐसा नहीं है। लेखक द्वारा इन दोनों रचनाओं के नायकों का एक ही नाम 'कार्तिक' रखना भी इस ओर इशारा करता है कि यह अनजाने ही नहीं हुआ। 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' तक आते-आते स्थितियाँ और विकट हुई हैं, लेकिन इसे 'नौ बिन्दुओं का खेल' के बरक्स रखते हुए यह स्पष्टत: महसूस होता है कि कार्तिक अब और उम्रदराज व अनुभवी ('जहीन-ओ-जईफ') हुआ है। पहले से ज्यादा विकट हो चलीं इन स्थितियों से निबटने का उसका तरीका अब पहले से ज्यादा सुलझा हुआ व परिपक्व प्रतीत होता है।

कार्तिक के विश्वास और भरोसे का कारण उस संरचना से उसकी वाकफियत है जिसने उसे छला है। वह जानता है कि सरकार के काम करने के तरीके क्या हैं, वह इस बात से पूरी तरह अभिज्ञता रखता है कि सरकार को जो ब्यूरोक्रेट चला रहे हैं, वे जनता की समस्याओं, उसके जीवन, उसके लोकाचार, विश्वास व मान्यताएँ, उसकी संवेदना, यहाँ तक कि उसकी भाषा से बहुत-बहुत दूर हैं। वह तकनीक को बाहर से लादना चाहते हैं, जबकि कार्तिक का मानना है कि ''असल में अगर हम टेक्नोलॉजी को समाज से विच्छिन्न कोई चीज मानते हैं तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता, लेकिन अगर हम समाज को साथ लेकर चलें तो वह उसे गहराई से अपनाता है। इसके लिए आपको सामाजिक परम्पराओं के साथ-साथ चलना होगा। मैं इनके दु:ख-सुख का साथी हूँ, तो ये भी मेरे साथ खड़े हैं।'' कार्तिक जमीनी स्तर पर काम करता है और उसे मालूम है कि काम करने की वास्तविक प्रक्रिया क्या है। वह लोगों से सीधा, फर्स्ट-हैंड जुड़ाव रखता है। इस उपन्यास में एक जगह मांडू के मौखिक इतिहास को उसके पूरे विस्तार में रखा गया है। विषयान्तर का खतरा उठाते हुए भी लेखक ने इस विस्तृति को इसलिए 'अफोर्ड' किया है, ताकि शास्त्रीय इतिहास के समानान्तर उस लोक-इतिहास को पूरे सम्मान के साथ रख सके जिसे सुविधा के लिए मौखिक इतिहास की अभिसंज्ञा दी जाती है। वह इस विस्तार की मार्फत उस लिपिबद्ध मानकीकरण का एक प्रतिपक्ष सामने रखता है जो सीधा श्रुति की पुरानी परम्परा से जा जुड़ता है। छोटेलाल शास्त्री– जिनके मुख से रानी रूपमती और बाज बहादुर के लोकव्याप्त इतिहास को यहाँ बयाँ किया गया है– इस उपन्यास का एक उपेक्षित लगता पात्र है, लेकिन लेखक द्वारा इसे बड़ी सूझ-बूझ के साथ डिजाइन किया गया है। इस पात्र के कॉमिकल जेस्चर्स अपने होने में युग के तमाम स्टैंडराइजेशन्स की धज्जियाँ उड़ाते दिख पड़ते हैं। वह अपने लोक-लुभावन हास्यबोध से इतिहास के उस संस्करण

को मुँह चिढ़ाता हुआ जान पड़ता है जिसे गम्भीर रूप से प्रामाणिक कहा व माना जाता है। गौरतलब ये भी है कि इतिहास के इस गलियारे की यात्रा को लेखक ने 'ब्रेन स्टॉर्मिंग सेशन' का नाम दिया है और इस पूरे प्रसंग में राजशेखर को किसी सैलानी की तरह से ट्रीट किया गया है। यह प्रकारान्तर से केन्द्र द्वारा परिधि का पर्यटन है। यहाँ दो भारत परस्पर मिल रहे हैं, दोनों के इतिहासबोध मिल रहे हैं। ''राजशेखर जैसे-जैसे कॉफी टेबल बुक के पन्ने पलटते जाते थे, वैसे-वैसे वे दिल्ली से बहुत दूर की एक दुनिया में प्रवेश करते जाते थे।'' और कि– ''राजशेखर सोचते रहे, हमारे देश में इतिहास कितना गहरा और एक-दूसरे से गुँथा हुआ है। कार्तिक ठीक ही कह रहा था कि किसी भी तकनीकी सामाजिक प्रयोग के लिए आपको उस समाज को उसके इतिहास को पहचानना चाहिए।'' लेकिन वापसी में प्लेन में बैठते हुए जब अशोक पांडेय ने राजशेखर से पूछा कि क्या हम लोगों की बैठकें भी आगे इसी तरह से होंगी जैसी कार्तिक की थीं, तो जवाब में राजशेखर कहते हैं– ''अनफॉर्च्युनेटली, नो। सरकार टेंडर और एग्रीमेंट पर चलती है। हम इस अनुभव से उतना ही लेंगे जितना हम लेना चाहते हैं।'' संतोष चौबे ने जिस लेखकीय कौशल से इस पूरे प्रसंग को लिखा है, इसके तमाम आरोह-अवरोहों को रचते हुए सम्भव किया है, इसके लिए उन्हें अलग से बधाई दी जानी चाहिए।

उक्त समस्त वजहों से कार्तिक का अन्त तक अपने पर भरोसा कायम रहता है। वह जानता है कि बिना अखाड़े में उतरे, दिल्ली में बैठे-बैठे सरकार उससे जीत नहीं सकती। वह भली-भाँति जानता है कि सरकार चाहकर भी वह नहीं कर सकती, जो उसने उसकी देखादेखी कर लेने का दम्भ भरा है। वह सरकार होने के नाते उसके मॉडल्स को हथिया तो सकती है लेकिन उसके क्रियान्वयन का पूरा खाका तो कार्तिक के हाथों में है। इसके बावजूद संतोष चौबे का यह नायक इसलिए आदर्श नायक की अपनी जमीन नहीं खोता क्योंकि वह कहीं से भी प्रतिशोधात्मक कार्यवाही करता हुआ नहीं दिखता। उसका मानना है कि ''आखिर हमारी क्रियेटीविटी तो हमारे पास है, उसे हमसे कोई नहीं छीन सकता।'' वह प्रतीक्षा करता है और मदद करने से भी नहीं चूकता। वह उबलता हुआ फिल्मी नायक नहीं, सुलझा हुआ सामाजिक उद्यमी है।

यह सुलझाव भी अपने समय से, हर तरह के रोमांस से परे जाकर, जमीनी स्तर पर जुड़ने से आता है। कार्तिक ने जो सपना देखा है, उसमें आज के समय का चरित्र किस कदर उजागर हुआ है, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं। यह एक बिम्ब है, जो अपने-आप में इस समाज की बेहतरीन अवधारणा प्रस्तुत करता है–

''मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है, जो धमनभट्ठी की तरह है, जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है– सतत् प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है। मेरे देखते-ही देखते वह मशीन एक आटोमेटन में बदल गयी जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस आटोमेटन में खिंचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे-रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल-जैसा कुछ था जो उन्हें सोख रहा था। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में परिवर्तित हो गयी और दूसरी ओर क्या हो रहा है, दिखना बन्द हो गया...''

यह विकास के उस पूरे मॉडल को उसकी नंगई में प्रस्तुत कर देता है जिसकी आड़ लेकर विनाश के धन्धे चलाये जा रहे हैं। यह विशाल मशीन अपनी कद्दावर मौजूदगी से तथाकथित विकास की कलई खोल देती है। यह एक विशाल बिम्ब है। अपनी सकलांगता में निष्कलंक और इसलिए बेधड़क। हिन्दी में विराट बिम्बों की निर्मिति अब न के बराबर देखी जाती है। इसे बाकायदा एक स्टेटमेंट की तरह देखा जाना चाहिए। इस बिम्ब को उसकी पूरी विराटता व व्यापकता में एकमुश्त देख और दिखा पाना बड़ा ही दुष्कर और उतना ही कष्टप्रद है। लेकिन लेखक ने यह हौसला और साहस दिखलाया है, इसके लिए वह साधुवाद का पात्र है।

–कुणाल सिंह

अनुक्रम

साधो, सबद साधना कीजै : मुकेश वर्मा 5

'सह-मत' का पूर्वालोक : कुणाल सिंह 11

दृष्टि-सम्पन्न रचनात्मकता की मिसाल/**धनंजय वर्मा** 19

अर्थतान्त्रिक स्वराज की आहट/**विनोद शाही** 28

सपनों की दुनिया में ब्लैक होल : एक
अलग-अलग-सा उपन्यास/**रमेश दबे** 37

नव-उदार पूँजीवाद का ब्लैक होल और
सपनों की दुनिया का यथार्थ/**विनोद तिवारी** 45

प्रखर रचनाशीलता के सपनों की धूप-छाँव/**डॉ. राजकुमार** 52

संघर्षशील स्वप्नजीवी युवा और
सत्तातन्त्र के ब्लैक होल!/**प्रकाश कान्त** 56

ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन वाया
सामाजिक उद्यमिता/**शंभु गुप्त** 62

उत्तर - महाभोज एक अलहदा राजनीतिक उपन्यास/
नलिन रंजन सिंह 87

सपनों के अपहरण की दास्तान/**अरविंद कुमार सिंह** 94

सत्ता और व्यवस्था की चालाकियों को उघाड़ने
वाला उपन्यास/**अरुण होता** 100

विकास, स्वातंत्र्योत्तर भारत और वस्तुस्थिति

की कथा/**महेश दर्पण** 109
सपनों के नष्ट नीड़ का यथार्थ @ सपनों की दुनिया में ब्लैक होल/**चंद्रकला त्रिपाठी** 121
सपनों की दुनिया में ब्लैक होल – तन्त्र की पतन गाथा का वृत्तान्त!!/ **कैलाश मंडलेकर** 128
यथार्थ के ब्लैक होल में रजत-रेखा की खोज/**प्रज्ञा** 131
छल का राजनैतिक व्याकरण और 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल'/**आशुतोष** 141
सपनों की दुनिया में अब अंधेरा ही अंधेरा है/**उमा शंकर चौधरी** 149
सपनों की दुनिया में ब्लैक होल : लोकतान्त्रिक राष्ट्र-राज्य की एक जुदा तस्वीर/**जगन्नाथ दुबे** 160
षड्यन्त्रों के मकड़जाल में उलझे सपनों का आख्यान/**ॠतु भनोट** 167

दृष्टि-सम्पन्न रचनात्मकता की मिसाल

धनंजय वर्मा

हिन्दी साहित्य के समकालीन परिदृश्य में जब आमतौर पर साहित्य ही साहित्य का स्रोत होता जा रहा हो, तब संतोष चौबे की रचनाशीलता एक प्रीतिकर अपवाद की तरह मौजूद है। उन्होंने अपनी रचनाशीलता में विज्ञान और तकनीकी प्रगति की अद्यतन उपलब्धियों के साथ, मानव ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं से अर्जित दृष्टि, कलाओं की अन्तर्निर्भरता और संस्कृति की अनेक स्तरीयता का समावेश किया है। मैंने पाँच जिल्दों में प्रकाशित उनका अब तक का समग्र लेखन पढ़ा है। उनके उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ, आलोचना और चिन्तन तथा अनुवाद का सिलसिलेवार अध्ययन किया है। उस पर विस्तार से कुछ कहने का यहाँ न तो अवसर है और न अवकाश। उसके समग्र और एकन्वित प्रभाव बिम्ब का बयान करूँ तो दिक्ककाल के नैरन्तर्य (स्पेस-टाइम-कान्टीनुअम) की ही मानिन्द उनमें विजन के साथ रचनात्मकता (क्रियेटिविटी विद अ विजन) की निरन्तरता है। उनका नया उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' उसी निरन्तरता की ताजी रचना है।

चूँकि विजन उनकी प्रकृति में है, सपने देखना उनकी आदत है, लेकिन उनके सपने बन्द आँखों से देखे गए आम सपने नहीं हैं, वे खुली आँखों, पूरे होशोहवास में देखे गए हैं। चुनाँचे उनमें उन्हें क्रियान्वित करने की बेचैनी और अद्यम भी है। हम उन्हें सामाजिक सक्रियतावादी (सोशल एक्टीविस्ट) रचनाकार भी कह सकते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'अपने समय में' हमारे समकालीन सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक के साथ-साथ साहित्य-कला और संस्कृति के सवालों से रू-ब-रू जिन मुद्दों पर चिन्तन-मनन किया है, वो एक साहित्यिक और संस्कृति कर्मी के साथ एक सचेत और जागरूक नागरिक की वैकल्पिक, सामाजिक-सांस्कृतिक सोच और उसके क्रियान्वयन की प्रयत्नशीलता को भी रेखांकित करते हैं।

साक्षरता आन्दोलन, जनविज्ञान आन्दोलन, सूचना और कम्प्यूटर क्रान्ति में उनकी सक्रिय भूमिका के साथ तीन राज्यों के छह विश्वविद्यालयों की स्थापना उनकी इसी सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक उद्यमिता के प्रमाण हैं।

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' में लगभग उन्हीं मुद्दों पर केन्द्रित संतोष चौबे की विचार-दृष्टि और सक्रियता को देखा जा सकता है। यहाँ भी टेक्नालॉजी, रंगकर्म, संगीत और मीडिया के साथ सामाजिक विकास और प्रगति के समकालीन परिदृश्य में एक सार्थक भूमिका का निर्वाह करते हुए मौजूदा सरकारी कारगुजारियों की अवसरवादी दिशाहीनता में एक जरूरी और सार्थक हस्तक्षेप है।

उपन्यास के मुख्य पात्र कार्तिक का यह सपना काबिले-गौर है– ''एक विशाल टी.वी. स्क्रीन जिसमें मुझे भारत सरकार के एक मन्त्री बैठे नजर आते हैं। वे बढ़-चढ़कर डीगें हाँक रहे हैं, उन सब कामों का श्रेय ले रहे हैं, जो मैं जानता हूँ, उन्होंने कभी किए ही नहीं। मंत्रीजी के एक तरफ कंसलटेन्ट त्यागी बैठा है और दूसरी ओर सेक्रेटरी राजशेखर। योजनाओं पर योजनाएँ ली जा रही हैं, टेन्डर पर टेन्डर लिए जा रहे हैं, दावे पर दावे किए जा रहे हैं, जिनमें से अधिकर झूठे हैं। मैं उनसे पूछता हूँ कि उन सब वादों का क्या हुआ जो उन्होंने किए थे? राजशेखर चीखकर कहता है– इस देशद्रोही को बाहर निकालो।''

इस सपने में अवास्तविक क्या है? यह सब तो हकीकत हो रहा है। क्या सवाल पूछना, आलोचना करना और असहमत होना आज 'देशद्रोह' नहीं कहा जा रहा? क्या अब 'सरकार' और 'देश' को समानार्थी नहीं बनाया जा रहा है? इसीलिए अभिषेक बैनर्जी (जिसने यह कार्तिक कथा लिखी है) के साथ हमें भी लगता है कि 'यह हमारे आज के समय की जरूरी कथा है।' इस जरूरी कथा के सूत्र जुड़ते हैं संतोष चौबे की एक प्रसिद्ध कहानी 'नौ बिन्दुओं के खेल' से। ''एक ऐसा खेल जो भारत सहित पूरी दुनिया में खेला जा रहा था, जिसने उद्योगपतियों को धनी और बैंकों को कंगाल बना दिया था, जिनमें जनता का पैसा एक सकिंग मशीन की तरह खींचा तो जा रहा था, पर वहाँ से उसके लौटने की कोई गारन्टी नहीं थी और कभी-कभी तो वह रूप बदलकर भव्य इमारतों की शक्ल में इधर-उधर टहलती आवारा पूँजी के रूप में या तहखानों तथा बैंक लॉकरों में काले दानव के रूप में छुपा पाया जाता था। कार्तिक द्वारा सुझाए दसवें बिन्दु के रूप में मेहनत, ईमानदारी और उद्यम जैसे शब्द पुराने पड़ गए थे। उनकी जगह चालाकी, कपट और धोखेबाजी ने ले ली थी।''

इसमें भी हमारा आज का सामाजिक और आर्थिक, राजनैतिक और प्रशासनिक

परिदृश्य नुमायाँ है। इस परिदृश्य में एक निष्ठावान सामाजिक उद्यमी कार्तिक, ग्रामीण भारत में इन्फार्मेशन टेक्नालॉजी के विस्तार के अपने सपने के क्रियान्वयन से कम्प्यूटर क्रान्ति को गाँवों तक न केवल ले गया है, बल्कि उसने सफलतापूर्वक एक हजार से अधिक ग्रामीण सूचना केन्द्र स्थापित कर लिए हैं। भारतीय प्रबन्धन संस्थान में भारत सरकार के सूचना तकनीक विभाग के सचिव राजशेखर, वर्ल्ड बैंक के भारत प्रभारी रॉबर्ट्स ज्यॉर्ज और भारत में परियोजना की मदद प्रदान करने वाली यू.एस.एल. के कंसलटेन्ट सुब्बा रेडी की मौजूदगी में कार्तिक ने अपनी शानदार योजना का प्रेजेन्टेशन प्रस्तुत किया। इसके बाद की चर्चा में कार्तिक ने सरकारी योजनाओं की अवधारणा और क्रियान्वयन की कमियों, खामियों का भी उल्लेख किया कि ''सरकार तलाश तो एक ग्रामीण मॉडल की कर रही है, पर उसकी सोच शहरी है। जरूरत दरअसल गाँवों को समझने की है– मसलन भाषा। नब्बे प्रतिशत भारतीय अंग्रेजी नहीं बोलते, लेकिन प्रशिक्षण अंग्रेजी में दिए जा रहे हैं।'' यह सब तो देश से कटकर और देश को काटकर हो रहा है। इसीलिए कार्तिक ने अपने केन्द्रों को किसी भी ग्रामीण उपक्रम की तरह मल्टीपर्पज– एक से अधिक काम वाला बनाया।

अपने उद्यम के व्यावहारिक स्वरूप को समझाने के लिए कार्तिक ने राजशेखर और उनके विभाग के निदेशक अशोक पाण्डेय को मांडू में अपनी टीम के साथ एक ब्रेन स्टार्मिंग सेशन में आमन्त्रित किया। इस सेशन में प्रदेश के विभिन्न केन्द्रों से आए केन्द्र संचालकों ने अपने-अपने ग्रामीण सूचना केन्द्रों की कार्यविधि प्रस्तुत की। इन केन्द्रों में कम्प्यूटर प्रशिक्षण के अलावा शादियों की वीडियो टाइटलिंग, ब्यूटी पार्लर के हेयर स्टाइल और ब्राइडल मेकअप, मिडिल स्कूल के लिए पेपर सेटिंग, रिजल्ट बनाने, बाजार में दुकानों की जरूरत को ध्यान में रखकर अकाउंटिंग साफ्टवेयर, टैक्स रिटर्न का काम, डीटीपी का काम, शादियों के कार्ड छापने, विजिटिंग कार्ड बनाने, स्क्रीन प्रिंटिंग, छोटे अखबार... गर्ज कि स्थानीय माँगों के अनुरूप नए-नए कामों से बहुत थोड़ी पूँजी लगाकर साल में अधिकतर लोग तीन-चार लाख कमा लेते हैं। इससे यह साफ हो गया कि माइक्रो एंटरप्राइजेज कैसे खड़ी की जा सकती हैं।

इसके बाद फ्रीक आउट सेशन में सड़क किनारे के ढाबों की व्यवस्था सुधारने के मकसद से ढाबढ़े के पीछे सब्जियों की आर्गेनिक फार्मिंग, ब्लड टेस्ट के लिए पैथालॉजी लैब, सैम्पल कलेक्शन सेन्टर, छोटी मेडिकल सुविधाएँ, डाइग्नोस्टिक सेन्टर, ग्रामीण स्पोर्ट्स अकादमी, प्ले स्कूल, बैंकिंग सर्विसेज, माइक्रो फाइनान्स,

मनोरंजन केन्द्र, पम्प और मोटर का काम, मोटर बाइन्डिंग, सोलर पम्प और सिंचाई की व्यवस्था, आडियो-वीडियो का काम, हार्डवेयर मेन्टेनेन्स, स्कूल के विद्यार्थियों के लिए काउन्सिलिंग केन्द्र और मांडू में एक कम्प्यूटर आधारित पर्यटन केन्द्र, जिसमें लाइट एंड साउंड शो, पर्यटकों के लिए फिल्म और एक गाइड प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना। कार्तिक ने अपने समापन वक्तव्य में कहा, ''हमारे देश में दो लाख पचास हजार पंचायतें और सात लाख गाँव हैं। अगर हर पंचायत में एक उद्यमी खड़ा हो जाए तो क्या देश की काया पलट नहीं हो जाएगी?''

और जैसी कि सम्भावना से अधिक आशंका थी, भारत सरकार के आई.टी. विभाग ने एक लाख ग्रामीण सुविधा केन्द्रों की स्थापना के लिए एक प्रोजेक्ट बनाकर वर्ल्ड बैंक को भेजा, जिसने उसे पास कर दिया और उसका क्रियान्वयन शुरू हो गया। जाहिर है यह सारी योजना कार्तिक के विचारों और प्रारूपों पर आधारित थी, लेकिन सारा श्रेय ले लिया भारत सरकार ने। उसके सूचना तकनीक विभाग के सलाहकार डॉ. हरपाल त्यागी ने घोषणा की– ''परियोजना देश में बड़े पैमाने पर टेक्नालॉजी का विस्तार करेगी, रोजगार का सृजन करेगी और लोगों के जीवन को सुगम बनाएगी। एक लाख पंचायतों में कम्प्यूटर केन्द्र बनाए जाएँगे और सरकार अपनी सेवाएँ उनके माध्यम से लोगों तक पहुँचाएगी। इससे करीब दो लाख लोगों को रोजगार मिलेगा और पूरी ग्रामीण व्यवस्था बदल जाएगी। भारत सरकार ने इस पूरी परियोजना को पी.पी.पी. मॉडल पर चलाने का निर्णय लिया– पी.पी.पी. यानी पब्लिक, प्रायवेट, पार्टनरशिप।''

जाहिर है यह सरकार की एक चतुराई भरी स्ट्रैटेजी थी। कार्तिका का मॉडल लोगों को 'मुक्त' करने वाला था, जबकि सरकार उन्हें 'नियन्त्रित' करना चाह रही थी। उधर वर्ल्ड बैंक ने जो कंसलटेन्ट नियुक्त किया था, उसने पूरी योजना को ऐसा अव्यावहारिक स्वरूप दिया कि उसमें भाग लेना असंभव नजर आने लगा। उन्होंने उसे सामाजिक उद्यमिता-सा सोशल कनेक्ट का प्रोजेक्ट बनाने की बजाय अधोरचना निर्माण या इन्फ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट समझ लिया। टर्न ओवर और बैंक गारन्टी की शर्तें ऐसी लगाईं कि छोटे-मोटे लोग अपने आप ही बाहर हो जाएँ। आर्थिक सहायता को भी बहुत चालाकी से छिपा लिया गया। पेनाल्टी की शर्तें डाल दीं। टेन्डर अरुणाचल प्रदेश से लेकर बस्तर और केरल तक एक ही तरह के प्रावधानों से निर्धारित किए गए। किस्सा कोताह, सरकार देश भर की पंचायतों पर नियन्त्रण करने की जल्दी में थी और परियोजना का फैल होना निश्चित था। दरअसल कार्तिक के विचारों पर आधारित प्रोजेक्ट को सरकार ने हाइजैक तो कर लिया,

लेकिन उसे ऐसा अव्यावहारिक रूप दिया कि वह माइक्रो एंटरप्राइज खड़ा करने की बजाय सिर्फ ऑनलाइन सर्विस डिलीवरी केन्द्र बनकर रह गया। उसकी असफलता से कार्तिक को भी खासा मानसिक आघात लगा, लेकिन चूँकि स्वभाव से वह खासा सकारात्मक सोच वाला व्यक्ति था, वह अपने अवसाद से बाहर आ गया और धार्मिक यात्राओं की तर्ज पर उसने आई.टी. यात्राएँ निकालना तय किया। उसके उद्यम से पूरे देश में खबर फैल गई कि एक ही संस्था है– कार्तिक की संस्था, जिसके सुविधा केन्द्र सुचारु रूप से चल रहे हैं और फिर एक बार सरकार कार्तिक के काम को देखने और फील्ड में उसके व्यावहारिक स्वरूप को समझने, उसकी शरण में आ गई।

रायपुर रीजनल ऑफिस में एक छोटे-से प्रेजेन्टेशन को देखने के बाद कार्तिक और उसकी टीम के साथ त्यागी ने दुर्ग, गुरूर, धमतरी, चारामा, कांकेर, केशकाल और कोंडागाँव तक बस्तर के घनघोर आदिवासी अँचल में करीब बीस 'सुविधा केन्द्रों' का अवलोकन किया। कार्तिक ने उन्हें समझाया– ''असल में अगर हम टेक्नालॉजी को समाज से विच्छिन्न कोई चीज मानते हैं तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता, लेकिन अगर हम समाज को साथ लेकर चलें तो वह उसे गहराई से अपनाता है। इसके लिए आपको सामाजिक परम्पराओं के साथ-साथ चलना होगा। मैं इनके दु:ख-सुख का साथी हूँ, तो ये भी मेरे साथ खड़े हैं।'' इसीलिए हमने शिक्षा का रास्ता पकड़ा। अपनी भाषा में शिक्षा के साथ हमने आदिवासी लड़कियों को पढ़ाने का बीड़ा उठाया, कम्प्यूटर के प्रति उनमें रुचि जगाई और ग्रामीण क्षेत्रों में जैसे जागृति की एक लहर दौड़ गई। जगदलपुर के बाद दन्तेवाड़ा से लेकर सुकमा तक की यात्रा के आरम्भ में त्यागी को लगा कि यह तो नक्सलवाद से प्रभावित इलाका है, तो वह सशंकित हो गया। कार्तिक की टीम के लोगों ने उन्हें समझाया कि आदिवासियों की मूल माँग जल, जंगल और जमीन की है। वे विकास के विरोधी नहीं हैं। विरोध इस बात का है कि आदिवासियों को उसमें शामिल नहीं किया जा रहा है। उनकी जमीन में जंगल काटकर बड़े-बड़े प्रोजेक्ट लगाए जा रहे हैं, तो उनमें उन्हें भी तो शामिल किया जाए। उनके जल, जंगल और जमीन, जिन पर वे निर्भर हैं, उन्हें यदि सरकार छीने तो उसकी वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में भी तो वह सोचे। एक आदिवासी युवती सोनी मरकाम ने तो साफ-साफ कहा– ''देखिए, हमारे समाज की अपनी लोकतान्त्रिक व्यवस्था थी और वह सदियों से चली आ रही थी। आपने उसके बदले ग्रामसभाएँ बनाए दीं, पर क्या ग्रामसभा से पूछकर काम होता है? और फिर ग्रामसभा को भी सरकारी अधिकारी मैनीपुलेट करते हैं–

फर्जी दस्तखत करवा लिए जाते हैं। आदिवासियों की सरलता और निरक्षरता का लाभ उठाया जाता है। अगर विरोध होता है तो पुलिस भेज दी जाती है। हिंसा इसीलिए होती है।''

बस्तर यात्रा से लौटकर रायपुर में फिर लगभग पाँच सौ युवा उद्यमी, जो अपने-अपने क्षेत्र में 'सुविधा केन्द्र' चला रहे थे, एकत्र हुए। स्थानीय मन्त्री और त्यागी के साथ हुई सभा में कार्तिक ने स्पष्ट किया कि भारत सरकार से आने वाली सर्विसेस का इन्तजार किए बगैर अपने नवाचार के बल पर हमने नयी-नयी सेवाएँ ईजाद कीं और पंचायत तथा ग्रामीण स्तर पर कम्प्यूटर केन्द्रों का संचालन करके सिद्ध कर दिया कि हम अपनी रचनात्मकता से कुछ भी कर सकते हैं। मन्त्री जी के आशीर्वचन के बाद त्यागी बिना किसी आश्वासन या वादे के दिल्ली वापस चला गया।

दिल्ली से फिर एक मेल आया कि भारत सरकार 'सुविधा केन्द्रों' को लेकर एक राष्ट्रीय कार्यशाला करने जा रही है और उसमें कार्तिक को आना है और अपने काम के बारे में बताना है। कार्तिक का मन शंका और उपेक्षा दोनों से भर उठा। उसने अपने मित्र अवस्थी से सम्पर्क किया। बहरहाल...

सवाल है कि सरकार है क्या और कौन? मन्त्री और अफसर ही न! अब मन्त्री तो इतने पढ़े-लिखे होते नहीं और अगर होते भी हों तो यह जरूरी नहीं कि अपने मन्त्रालयों के विषय विशेषज्ञ हों– सो रोजमर्रा गतिविधियों और सरकारी योजना-परियोजना बनाने से लेकर उनके क्रियान्वयन तक सबका जिम्मा अफसर के कंधों पर! और सरकारी अफसर तो हर विभाग और विषय के विशेषज्ञ! आज कृषि विभाग, कल शिक्षा विभाग, परसों संस्कृति विभाग! अफसरशाही का यह तन्त्र हमें अंग्रेजों ने गुलाम बनाए रखने के लिए विकसित किया था और स्वतन्त्रता के बाद हमने गोरी अफसरशाही की जगह काली अफसरशाही न केवल स्थापित कर दी, बल्कि उसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, सुरक्षित और संरक्षित कर दिया। हमारे मौजूदा लोकतन्त्र में 'लोक' तो कहीं है नहीं, सिर्फ तन्त्र ही तन्त्र हावी है और जिसे सरदार पटेल ने प्रशासन का 'स्टील फ्रेम' कहा था, वह उतना ही सख्त और बेहिस है जितना कि स्टील! सितम यह कि अफसर खुद को 'सिविल सर्वेन्ट' कहता है, जो न सिविल है और न सर्वेन्ट! कार्तिक की शंका और अपेक्षा के सन्दर्भ में पी.पी.पी. के प्रसंग में उसके मित्र अवस्थी ने इस सरकारी तन्त्र का बेहतरीन खुलासा किया है– अपने साक्षरता आन्दोलन के दौरान हुए अनुभवों को साझा करते हुए।

केरल के एर्णाकुलम जिले में एक कैम्पेन के आधार पर साक्षरता अभियान

शुरू हुआ। साल भर में वह सम्पूर्ण जिला साक्षर बन गया। भारत सरकार की निगाह उस प्रयोग पर पड़ी। तत्कालीन वाम सरकार के शिक्षामन्त्री को लगा कि वे समय आने पर वाम की मदद से प्रधानमन्त्री बन सकते हैं सो उन्होंने उसे राष्ट्रव्यापी बनाया। फिर अपने प्रदेश में एक युवा आई.ए.एस. अफसर राधेश्याम शर्मा आया। उसने परियोजना की बारीकियों को समझा। उसे दो-तीन जिले दिखाए गए। उसने अपना असली रंग शुरू किया। एक प्रान्त स्तरीय बैठक आयोजित हुई और तय किया गया कि परियोजना सीधे सरकार (राधेश्याम शर्मा) द्वारा संचालित होगी और उसमें अवस्थी जी की संस्था की कोई भूमिका नहीं होगी। उधर भारत सरकार ने धीरे-धीरे परियोजना का स्वरूप बदलना शुरू किया। जब साक्षरता आन्दोलन को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि मिलने लगी तब पूरे भारत के लिए वर्ल्ड बैंक फंडिंग का प्रोजेक्ट बनाया गया, जो स्वीकृत भी हो गया। करीब एक-दो सालों में पूरी योजना सरकार के हाथों में चली गई। जिसे पब्लिक प्रायवेट पार्टनरशिप कहा जाता है। उसमें हमेशा सरकार ही बड़ी पार्टनर होती है और पलड़ा उसी की तरफ झुकता है, जब तक कि 'प्रायवेट' सरकार से बड़ा न हो जाए। अब हमारे देश में कुछ 'प्रायवेट' तो इतने बड़े हो गए हैं कि वे सरकार के साथ खुलकर 'खेल' रहे हैं और जीत रहे हैं। अब तो सरकार ही सबसे बड़ी 'कार्पोरेट' है। जनता का धन, उसकी मेहनत, उसकी ऊर्जा अन्ततः 'सरकार' या किसी 'कार्पोरेट' में ही समाहित हो जाती है।

याद करें संतोष चौबे के उपन्यास– 'क्या पता कामरेड मोहन' को। तरसेम गुजराल ने उसे वाजिब ही 'संघर्षशील कार्तिक यंत्रणा' कथा कहा है। उसमें कार्तिक का मोहभंग हुआ है– कम्युनिस्ट पार्टी से और यहाँ उसका भरोसा टूटा है सरकार में से! भरोसा जितना लाजिमी होता है, उस पर हुई चोट उतनी ही तकलीफदेह होती है चुनाँचे कार्तिक को यह सपना आता है– ''मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है, जो धमनभट्टी की तरह है, जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है– सतत प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है। मेरे देखते-ही देखते वह मशीन एक आटोमेटन में बदल गई जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस आटोमेटन में खिंचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे-रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक

ब्लैक होल-जैसा कुछ था जो उन्हें सोख रहा था। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में परिवर्तित हो गयी और दूसरी ओर क्या हो रहा है, दिखना बन्द हो गया...''

आप गौर कीजिए यह महज एक सपना नहीं है, यह तो अहवाले वाकई हैं। जिसे हम 'भूमंडलीकरण' कहते हैं वह भी तो दरअसल है 'भूमंडीकरण' ही– यानी सारी दुनिया को एक मंडी, एक बाजार में तब्दील कर देने की महायुति! पूँजीवाद के चरम उत्कर्ष में यही तो होना है, यही तो हो रहा है। पूरी दुनिया के देशों का समकालीन परिदृश्य देख लीजिए– सामाजिक और आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक लगभग हर स्तर पर पूँजी का वर्चस्व बढ़ता चला जा रहा है। याद आता है, कवि-आलोचक प्रमोद वर्मा ने लिखा है– ''राज्यसत्ता मूलतः मनुष्य विरोधी होती है।'' और यहाँ संतोष चौबे भी कह रहे हैं कि ''जनता का धन, उसकी मेहनत, उसकी ऊर्जा अन्ततः 'सरकार' या किसी 'कार्पोरेट' में ही समाहित हो जाती है,'' यही नहीं बल्कि ''उस धमनभट्टी की तरह की मशीन में मनुष्य डाले जा रहे हैं और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है।'' सत्ता के इसी मानव विरोधी चरित्र के विकल्प में कार्ल मार्क्स ने ही नहीं, हमारे महात्मा गाँधी ने भी क्रियान्वयन का एक व्यावहारिक स्वरूप भी प्रस्तुत किया था।

अद्यतन ब्रह्मांड विज्ञान हमें बताता है कि ब्लैक होल हमारे अंतरिक्ष में एक ऐसी जगह है जहाँ इतना अधिक गुरुत्वाकर्षण है कि वहाँ सब कुछ– यहाँ तक कि प्रकाश भी उसमें समा जाता है और ऐसा तब होता है जब कोई तारा मर रहा होता है। याद आता है जकिया गजल का शेर–

जमीन के जो खुदा हैं, उसको भूले हैं
जो हर उरूज को जवाल देता है...

इस सपने के माध्यम से क्या कार्तिक (जो स्वयं लेखक का पसौना है) इशारतन यही नहीं कह रहा है कि दरअसल यह सरकार ही तो एक ब्लैक होल है जिसमें दूसरी ओर क्या हो रहा है, यह भी अब 'रहस्य' नहीं रह गया है। उपन्यास की एक पात्र नन्दिता के माध्यम से वह यह भी कहता है– ''समाधान ब्लैक होल से दूर रहने में है। आप उससे इतनी दूर रहें कि उसका गुरुत्वाकर्षण आपको प्रभावित न करे... आखिर हमारी क्रिएटीविटी तो हमारे पास है, उसे तो हमसे कोई नहीं छीन सकता।''

गौर करें एक विजन के साथ रचनात्मकता (क्रिएटीविटी विद अ विजन) की निरन्तरता यहाँ भी बरकरार है। 'हिन्द स्वराज्य' में महात्मा गाँधी ने 'ग्राम स्वराज'

का एक प्रतिमान प्रस्तुत किया था। गाँव को आत्मनिर्भर बनाने का उनका सपना तो साकार नहीं हुआ। वह तो विशाल औद्योगीकरण और व्यापक शहरीकरण के आधारणीय (अन सस्टेनेबल) विकास की अँधी दौड़ की भेंट चढ़ गया। किसान, मजदूर हो गया और गाँव के गाँव शहरों की झुग्गी-झोपड़ियों के स्लम्स में समाते चले गए। संतोष चौबे ने ग्रामीण आत्मनिर्भरता के साथ स्वावलम्बी विकसित ग्राम की संकल्पना से अपनी दृष्टि सम्पन्न रचनात्मकता की मिसाल इस उपन्यास में प्रस्तुत की है।

❑

अर्थतान्त्रिक स्वराज की आहट

विनोद शाही

‘**उसे** प्रख्यात विचारक धर्मपाल की याद आयी, जिन्होंने शोध करके बताया था कि अँग्रेजों के आने के पहले हमारे यहाँ पढ़ाई-लिखाई के अच्छे प्रबन्ध थे और साक्षरता दर बहुत ऊँची। अकबर के समय भारत विश्व की जी.डी.पी. में 25 प्रतिशत से अधिक का योगदान करता था। पिछले सत्तर सालों में हम उस जगह तो पहुँच ही गये हैं कि अपनी मूल समस्याएँ सुलझा लें। तो फिर हर काम के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कंसल्टेंट क्यों?’

–सपनों की दुनिया में ब्लैक होल

एक अच्छा उपन्यास एक तल पर कुछ नया करने की कोशिश करता है और अपने उस नवाचार को, अपनी एक अलग पहचान हो जाने लायक बनाता है। इस तरह देखा जाए तो हर अच्छा उपन्यास एक चुनौती की तरह आता है। वह उपन्यास की परम्परा के एक अलग तरह के पाठ लिए आमन्त्रित करता है। हम जब तक इस अलग परम्परा के पाठ के लिए खुद को खोलते नहीं, हमारी उस उपन्यास की पहचान और परख, बने-बनाए खानों में नई कृति को जबरन बिठा देने के सफल-असफल प्रयास से अधिक कुछ नहीं हो सकती।

संतोष चौबे के उपन्यास ‘सपनों की दुनिया में ब्लैक होल’ को पढ़ने के बाद एकबारगी तो आप परेशान होकर बैठ सकते हैं। पहली दिक्कत तो इसके ‘फॉर्म’ को लेकर है। दूसरा सवाल इसकी परम्परा की शिनाख्त करने का है, ताकि हम उस परिप्रेक्ष्य को खोज पाएँ, जहाँ से कृति को ‘समग्रता’ में देख पाना मुमकिन हो।

जिसे हम कृति का वास्तविक अर्थ कह सकते हैं, उसका सम्बन्ध कृति की समग्रता से होता है। आलोचना की पुरानी भाषा में उसे कृति के सभी अंगों की परिणति या चरम सीमा में समाहार की तरह देखा-समझा जाता था। परन्तु वह अर्थ

ग्रहण की एक अपर्याप्त पद्धति थी। वह उपन्यास जैसी व्यापक फलक की कृतियों की उस 'अन्त:पाठियता' की उपेक्षा करती थी, जिसके अभाव में कोई उपन्यास, ठीक से उपन्यास नहीं हो सकता। इसलिए अब हम उपन्यास के भीतर मौजूद उन सूत्रों को पकड़ते हैं, जो उपन्यास में किन्हीं 'बाहरी आख्यानों' (एक्सटर्नल नेरेटिब्ज) तक ले जाते हैं और हमें पता चल जाता है कि उपन्यास किस परम्परा परिदृश्य के दबाव के द्वारा लिखा, लिखवाया गया है।

जहाँ तक इस उपन्यास का सम्बन्ध है, इसे अनेक अर्थतान्त्रिक विकास मॉडलों के पारस्परिक अन्त:पाठीय रिश्तों के भीतर से अपने अर्थ तक पहुँचते हुए देखा जा सकता है। ये मुख्यत: वैश्विक पूँजीतन्त्र, मुक्त बाजारवाद, समाजवादी और कल्याणकारी विचारधाराओं और प्रजातान्त्रिक एवं ग्रामीण स्वराज से सम्बद्ध अर्थतान्त्रिक आख्यान हैं, जिन्हें यह उपन्यास अपनी वैचारिक अन्त:कथाओं की तरह आगे बढ़ने का आधार बनाता है।

लेकिन वहाँ जाने से पहले यह देख लें कि विवेच्य कृति किस तरह का उपन्यास है? यह सवाल यहाँ इसलिए उठ खड़ा होता है, क्योंकि इसकी कथा स्वयं को अपने तौर पर खुद संचालित नहीं करती, अपितु उसे एक 'स्वप्न स्थिति' की तरह प्रस्तुत करते ठहर जाती है। शेष कथा, उस स्वप्न स्थिति की 'केस हिस्ट्री' है। जैसे सिग्मंड फ्रॉयड के अनुकरण में, उस दौर के बहुत से मनोविश्लेषक, मरीजों के स्वप्नों की डायरी बनाते थे। फिर उनके जीवन में घटी घटनाओं की हिस्ट्री शीट बनाकर, उन सपनों के अर्थ उसमें तलाशते थे, लेकिन यहाँ बात वहीं तक रुकी नहीं रहती।

एक सपना, एक 'अर्थतान्त्रिक परियोजना' की बाबत सत्ता के दुष्प्रचार की तरह खुलता है। कथानायक कार्तिक को यह झूठ बर्दाश्त नहीं होता। इस पहले स्वप्न में इस उपन्यास की शेष सारी कथा समायी हुई है। टीवी की बड़ी स्क्रीन पर विकास की परियोजनाओं की कामयाबी के झूठे दावे करने वाला एक मन्त्री अपने सहयोगियों के साथ वहाँ दिखाई दे रहा है। कथा नायक उस स्क्रीन के भीतर प्रवेश करके उस झूठ के ऊपर से पर्दा उठाना चाहता है। वह ऐसा करके सत्ता के खेल को बिगाड़ देना चाहता है, पर सपने और हकीकत में फर्क है। वह सत्ता से पराजित होने की नियति का अतिक्रमण नहीं कर सकता। अपने से बड़ी शक्तियों के हाथों पराजित होने की नियति के उद्घाटन के लिए लिखी गयी इस तरह की कृतियाँ, एक भिन्न अर्थ में क्लासिकी दौर के ग्रीक नाटकों की याद दिला सकती हैं। यहाँ भी अन्तत: कुछ वैसा ही त्रासद मंजर हमें तब दिखाई देता है, जब उस सपने के

गर्भ से एक और सपना प्रकट होता है। तब हम उस परियोजना के दुष्चक्र को उसकी समग्रता में देख पाते हैं।

'एक विशालकाय मशीन है, जो धमन-भट्टी की तरह है, जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है सतत प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं, किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है...। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में ही परिवर्तित हो गयी और उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है, ये दिखना बन्द हो गया...'

यह पूरा उपन्यास इन दो सपनों के बीच के अन्तराल में फैला है। यह पहले से दूसरे सपने तक पहुँचने का सफर है। इस दूसरे सपने को 'देखने लायक होना' इसकी कथा का कुल हासिल है। वह उस दुष्चक्र से बाहर आने का रास्ता दिखाता है। तब हम एक दफा फिर जहाँ से शुरू हुए थे, वहीं लौट आते हैं, पर अबकी दफा हमारा लौटना दृष्टि सम्पन्न होकर लौटना होता है। इसलिए वह एक नए विकल्प के द्वार खोलता है।

कथा के तल पर यहाँ बस इस एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न तक का विकास दिखाई देता है। बात पहले से दूसरे सपने तक क्यों पहुँची, इसका खुलासा इस कृति का रूप लेता है।

यह शिल्प कुछ-कुछ 'अपराध थ्रिलर्ज' की याद दिलाता है, जहाँ रहस्य से धीरे-धीरे पर्दा उठता है। परन्तु उस तरह के शिल्प में अज्ञात जिस हद तक अनुमेय को स्थगित करके पाठक की दिलचस्पी को बनाये रखता है, वैसा कुछ यहाँ नजर नहीं आता। यहाँ हमें पूर्वज्ञात और अनुमेय की अधिक तार्किक व विश्वसनीय व्याख्या ही मिलती है, तब इसे उपन्यास बनाने वाली वस्तु के रूप में हमें कथा के बजाय किसी अन्य बात की ओर रुख करना पड़ता है।

यह जो अलग तरह की 'औपन्यासिकता' इस कृति में दिखाई देती है, उसका सम्बन्ध कथा के अन्तर्विकास से उतना नहीं है, जितना भीतर मौजूद 'विकास के विविध आख्यानों' की 'अन्तर्पाठीय अन्तर्कथा' से है।

विकास के विविध आख्यान, इस उपन्यास में, एक खास तरह की परियोजना के तहत अपनी परिणति खोजते हैं। परियोजना एक हद तक सफल होकर 'हाईजैक' हो जाती है।

इस अर्थ में यह कृति विकास के आख्यानों की त्रासदी का रूप ले लेती है।

विकल्प 'यूटोपियन' है। इसे लेखक ने 'खुली आँखों से सपने देखने' का नाम

दिया है। वह जितना व्यावहारिक है, उतना एक सपना है और जितना अव्यावहारिक है, उतना ही एक यथार्थ है। यथार्थ के तल पर वह खंडित हो जाता है और कृति को एक त्रासदी में बदल देता है।

तथापि इससे कुछ गौरतलब सवाल पैदा होते हैं। क्या उपन्यास को इतना लचीला बनाया जा सकता है कि वह उपन्यास न रहकर कुछ और लगने लगे। प्रयोगशीलता विकास के लिये जरूरी होती है पर उसकी सीमा का निर्धारण कैसे किया जाए, यह सवाल उससे भी जरूरी होता है। जैसे इस उपन्यास को एक उपन्यास से अधिक एक परियोजना की केस हिस्ट्री की तरह लिखा गया है। साहित्य में बहुत पहले से संस्मरण, यात्रा वृत्तान्त और रिपोर्ताज अपनी रचनाशील होने की सम्भावनाओं के कारण ग्राह्य हुए हैं। वहाँ कल्पनाशील तरीके से यह मुमकिन हुआ है कि इन विधाओं को भी कथा के दायरे में ले आया जाए। कभी 'धर्मयुग' ने इस सम्भावना पर मोहर लगाते हुए बहुत-सी ऐसी कहानियाँ प्रकाशित की थीं, जिन्हें 'खबर-कथा' कहा गया था।

उपन्यास में जो कृतियाँ पहले समस्या-प्रधान कोटि में रखी जाती थीं, वे पिछले तीन दशकों में कुछ इस तरह की होती चली गई हैं, जिन्हें नामवर सिंह 'उपन्यास के एक परियोजना की तरह लिखे जाने' की तरह देखते हैं। बाकायदा शोध करके किसी खास क्षेत्र की जानकारियाँ जुटाकर लिखे गये ये उपन्यास अपने 'सूचनात्मक ज्ञान' से तो प्रभावित करते हैं परन्तु यथार्थ का वह अनुभव, जिसे हम एक कथा की तरह उपलब्ध करके अपनी स्मृतियों का हिस्सा बनाते हैं, वह ऐसी कृतियों में उतना अभिव्यक्त होने से कुछ अवश्य चूक जाता है।

जाहिर है, एक श्रेष्ठ उपन्यास होने के लिए हमें अब अपने समकालीन उपन्यासों में एक नए संतुलन को कसौटी बनाना पड़ेगा। उस संतुलन को, जो सूचनात्मक ज्ञान और कथा की समय-क्रमी स्मृतियों के दरम्यान साधा जा सकता है। यह कथा के हिस्से में आता है कि वह समय के युगबोधक रूप को ऐसा क्रम देती है कि उसे एक परिणति तक पहुँचता पाकर हमारी स्मृतियाँ उससे तादात्म्य कर पाती हैं।

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' एक ऐसा उपन्यास है, जो अपनी 'वैचारिक अन्तर्वस्तु' को ही उपन्यास की अन्तर्कथा बनाने की कोशिश करता है। ऊपर से देखने पर यह वैचारिक अन्तर्वस्तु 'सूचनात्मक ज्ञान' की श्रेणी में आती है, परन्तु जब हम उसकी गहराई में उतरते हैं तो पाते हैं कि उस वैचारिकता का एक अपना आख्यान है, जो एक परियोजना की केस हिस्ट्री को अन्तर्कथा के रूप में विकास

करता है।

कथा नायक उच्च तकनीकी विकास की सम्भावनाओं को भारत के गाँवों तक ले जाना चाहता है। इस तरह यह उपन्यास 'भारत में विकास के वैकल्पिक मॉडल' की तलाश का उपन्यास हो जाता है। विकास के इस मॉडल का सम्बन्ध कम्प्यूटर क्रान्ति करने से है, परन्तु वह आयातित उच्च तकनीकी का भारत पर आरोपण नहीं है। इसके उलट वह भारत के गाँवों की जमीनी समझ और उसकी विविधता व बहुलता के मुताबिक उच्च तकनीकी के कल्पनाशील इस्तेमाल से सम्बद्ध विकास मॉडल है। इस तरह वहाँ भारत के मूलतः ग्रामीण यथार्थ होने की समझ और उच्च तकनीकी की वैश्विक बाजारवादी संरचना– इन दोनों के बीच तालमेल बिठाने की अन्तर्कथा सामने आती है।

बाहरी तौर पर जो गाँव-गाँव में कम्प्यूटर केन्द्र खोलने के प्रयोजन की केस हिस्ट्री है, वह गहरे में दो अन्तर्कथाओं के घात-प्रतिघात से आगे बढ़ती है। इसलिए इस कृति का सम्बन्ध उस अन्तर्कथा से दिखाई देता है, जो सतह के नीचे की विविध धाराओं-उपधाराओं की तरह आपस में जूझते-टकराती विकास करती है।

ग्रामीण यथार्थ की शक्ति और सम्भावना उसके इतिहास में है। उस इतिहास को नष्ट कर दिया गया है, पर कोशिश की जाती है कि उसके कुछ अवशेष जो अभी तक लोगों की स्मृतियों, उनके रीति-रिवाजों और भाषागत संस्कारों में बचे हुए हैं, उन्हें बटोर कर किसी तरह लोगों को एकजुट किया जाए और सकारात्मक कार्यों में लगाया जाए। अपने ग्रामीण यथार्थ की यह जो इतिहास भूमि है, उसकी अपनी अन्तर्कथा है। वहाँ पीछे मौजूद है, भारत के 'अर्थतान्त्रिक स्वराज' की स्मृतियाँ। लोकभाषा में उसे भारत के सोने की चिड़िया होने के अतीत की तरह देखा जाता रहा है। यह अर्थतान्त्रिक स्वराज इस उपन्यास की आत्मा की तरह पीछे खड़ा रहता है, परन्तु इस अहसास के साथ कि अब तक आते-आते हमने अपनी यह आत्मा खो दी है। इस सन्दर्भ में आप इस उपन्यास से लिये गये धर्मपाल के उस उद्धरण को दोबारा पढ़ सकते हैं, जिसे इस आलेख के आरम्भ में दिया गया है। वहाँ हम अपने अकबर-काल में लौटते हैं, जब हमारा वैश्विक अर्थव्यवस्था में योगदान शेष दुनिया के मुकाबले सर्वाधिक था। इतिहास की यह अन्तर्कथा हमें याद दिलाती है कि हममें वह काबलियत है, जिसके सहारे हम आज भी अपने आपको, बिना किसी बाहरी नियन्त्रण के खुद सँभाल सकते हैं।

सवाल उठाया गया है कि विश्व बैंक से कर्ज लेकर सरकार जब विकास की किसी परियोजना को अपने हाथ में लेती है, तो वहाँ बाहर से आने वाले

'कन्सल्टेंट' को बतौर 'रेगुलेटर' स्वीकार कर लिया जाता है, परन्तु न सरकारी अफसरों को और न बाहर वाले रेगुलेटर को हमारे गाँवों की जमीनी हकीकत का पूरा ज्ञान होता है। इससे होता यह है कि ऐसी परियोजनाओं के द्वारा विकास करने की सम्भावना सीमित हो जाती है और उसका लक्ष्य विकास के बजाय, पूँजी का अधिकाधिक उत्पाद और संचय हो जाता है।

यहाँ हम विकास के जमीनी मॉडल और उसके वैश्विक रूप से सम्बद्ध, दो तरह की सोच की अन्तर्कथाओं के बीच संघर्ष को देखते हैं।

''उसके और सरकार के मॉडल में एक मूल फर्क था। उसके मॉडल में उद्यमी तय करते थे कि उन्हें क्या करना है और टेक्नॉलॉजी उनकी मदद करती थी। यहाँ सरकार तय कर रही थी कि उन्हें क्या करना है और टेक्नॉलॉजी उन्हें नियन्त्रित करने वाली थी। उसका मॉडल लोगों को 'मुक्त' करता था, सरकार उन्हें 'नियन्त्रित' करना चाह रही थी।''

तथापि इस अन्तर्कथा की, अपने अन्त:पाठ में अनेक व्याख्याएँ की जा सकती हैं। विकास का जमीनी मॉडल गाँवों की विविधता और बहुलता से उपजी जरूरतों को देखकर बनाया जाता है, इसलिए उसमें एकरूपता नहीं है, जबकि सरकारी और वैश्विक विकास मॉडल बहुत व्यवस्थित और 'रेगुलेटेड' हैं। दोनों मॉडल्स के अपने फायदे-नुकसान हैं, परन्तु यह उपन्यास विकास के जमीनी मॉडल के साथ खड़ा नजर आता है। उससे परियोजना के लाभ को व्यापक जन-समाज तक पहुँचाया जा सकता है, जबकि सरकारी मॉडल का उद्देश्य लोगों का सशक्तीकरण नहीं है। वह विकास की हर परियोजना को अन्तत: राष्ट्र के 'सरप्लस' के रूप में अधिकाधिक पूँजी को उपजाने का एक हेतु भर है। ये दो दृष्टियाँ हैं। दोनों का अपना इतिहास है।

''सबसे पहले तो उन्होंने उसे सामाजिक उद्यमिता या सोशल कनेक्ट का प्रोजेक्ट समझने के बदले अधोसंरचना निर्माण या इंफ्रास्ट्रक्चर का प्रोजेक्ट समझ लिया। टर्न ओवर एवं बैंक गारण्टी की ऐसी कंडीशंस लगाई गईं कि छोटे-मोटे लोग अपने आप ही बाहर हो जाएँ।''

यहाँ तक पहुँच कर अब हम इस बात को समझने लायक हो जाते हैं कि जन-सशक्तीकरण के लिए बने लचीले जमीनी विकास मॉडल का एक अपना इतिहास है, जो वाम विचारधारा से लेकर कल्याणकारी अर्थतन्त्र की अन्तर्कथाओं से जन्म लेता है। उसी की एक कड़ी है, हमारे अपने यहाँ पैदा हुई अर्थतान्त्रिक स्वराज की अवधारणा।

गाँवों के परम्परागत अर्थतन्त्र के आत्मनिर्भर और आत्मस्वायत्त होने की बात

अभी हमारे यहाँ पूरी तरह विस्मृत नहीं हुई है, परन्तु औपनिवेशिक दौर में उस अर्थतन्त्र को तबाह कर दिया गया। अब उसमें फिर से वापसी की बात पुनरुत्थान लग सकती है।

इसलिए यह उपन्यास अविकसित यान्त्रिक उपकरणों से होने वाले अतीत के अर्थतान्त्रिक विकास को ही फिर से खड़ा करने की ओर नहीं जाता। वह उच्च तकनीकी कम्प्यूटर क्रान्ति की शक्ल देकर उसे अपने समय के अनुकूल बनाना चाहता है, परन्तु वह प्रयोग पूरा सफल नहीं होता। निजी क्षेत्र की अपनी सीमाएँ होती हैं इसलिए आमतौर पर भारत जैसे गरीब देश में पूँजी का मजबूत आधार न होने के कारण विकास धीमी गति से ही सम्भव है।

''मूल बात ये है कि आपकी विकास की अवधारणा क्या है और क्या आप उसमें लोगों को शामिल कर रहे हैं, विशेषकर उनको जिनके संसाधन इस विकास की प्रक्रिया में छीने जा रहे हैं।''

जब बात विकास परियोजनाओं में लोगों को शामिल करने की होती है, तो उसे यह कृति एक अलग रूप में सामने लाती है। विकास की इस अलग परियोजना को, यहाँ सरकारी सहायता की गारण्टी वाला पीपीपी मॉडल कहा गया है। प्राइवेट और पब्लिक क्षेत्र की आपसदारी के परिणाम बेहतर हो सकते हैं। अपनी दूसरी परियोजनाओं में हुए भी हैं। जैसे भारत का मेट्रो रेल प्रोजेक्ट और हाईवे नेटवर्क विस्तार इस मॉडल के कारगर होने के अनुकरणीय उदाहरण हैं, परन्तु यह उपन्यास इसे अव्यावहारिक, जनविरोधी, भ्रष्टाचार ग्रस्त और चंद अफसरों व मन्त्रियों की सरकारी धन की बेशरम लूट का शिकार होता दिखाता है। ऐसा नहीं है कि सरकारें इन दोषों से मुक्त होती हैं, परन्तु ऐसा भी नहीं है कि चंद लोगों की स्वार्थपरता और लोलुपता के कारण किसी अच्छी परियोजना को तबाह होने दिया जाता है। सच्चाई इन दोनों स्थितियों के बीच कहीं अटकी होती है।

लेकिन हम मान सकते हैं कि यह उपन्यास पीपीपी मॉडल की सफलता-असफलता का आकलन करने वाला उपन्यास नहीं है, अपितु यह एक खास परियोजना की एक खास कथा भर है, इसलिए उसकी बाबत प्रस्तुत उसकी केस हिस्ट्री का सम्बन्ध भी उपन्यास के विशिष्ट संसार की ही उपज है। तो जहाँ तक पीपीपी मॉडल के इस उपन्यास के विशिष्ट रूप का सम्बन्ध है, उसे कार्तिक ऑफलाइन सर्विसेज के बल पर सफलतापूर्वक चला रहा है। सरकार ऑनलाइन सर्विसेज नहीं दे पा रही है पर तब भी कम्प्यूटर केन्द्रों को थोड़े-बहुत फायदे की बिना पर चलाए रखने के हालात यहाँ प्रस्तुत हुए हैं।

दिक्कत तब होती है, जब कार्तिक की ऑफलाइन सर्विसेज को सरकार अपनी योजना की तरह लागू करना चाहती है। इससे कार्तिक को लगता है कि उसके साथ धोखा हुआ है। दूसरी परेशानी यह है कि सरकार विश्व बैंक से आए धन पर गेंडुली मारकर बैठ जाती है। इससे लोग हताश हो जाते हैं और पूरी परियोजना निष्प्राण हो जाती है।

एक खास परियोजना की केस हिस्ट्री के तौर पर ये ब्यौरे विश्वसनीय लग सकते हैं। तथापि कृति यह स्पष्ट नहीं करती कि पीपीपी मॉडल का तो मतलब ही यह होता है कि सरकार पूँजी नहीं लगाती, न ही वह कोई मदद करती है। वह केवल निजी क्षेत्र को खुद काम करने के अनुकूल हालात भर देती है। सरकार 'फैसिलिटेट' करती है, 'प्रबन्धन' करती है, पर 'व्यापार' और पूँजी के लेन-देन से बाहर रहती है। उतना तो यहाँ भी हो रहा है तो कार्तिक की निराशा का कारण क्या है? क्या यह कि उसे समुचित श्रेय नहीं मिल रहा है और बाकी लोग निराश इसलिए हैं, क्योंकि वे सरकारी मदद पर निर्भर रहने की पुरानी आदत का शिकार हैं। इससे इस कृति का अर्थ बदल जाता है।

इससे सरकार ही अपने भ्रष्टाचार के कारण कटघरे में खड़े करने लायक नहीं होती, स्वयं कार्तिक और शेष उद्यमी भी अपनी-अपनी सीमाओं से बँधे दिखाई देने लगते हैं।

इससे एक ध्वनि यह निकलती है कि भारत अभी पीपीपी मॉडल को अपनाने लायक नहीं हुआ है। तब सरकार का यह फैसला ठीक लगने लगता है कि इस परियोजना को कम्पनी के हवाले कर दिया जाए। यह सरकार का खुद को भ्रष्टाचार के आरोप से उबारने का तरीका है। बेशक भ्रष्टाचार को सही नहीं ठहराया जा सकता पर वह इस उपन्यास का बुनियादी सरोकार नहीं है।

सरकारी भ्रष्टाचार से लड़ना सबसे कठिन कार्यों में से एक होता है। वजह यह है कि सरकार भ्रष्टाचारी भी होती है और भ्रष्टाचारी को पकड़ने वाली भी। इस स्थिति को सुधारने के लिए अक्सर लोकपाल की नियुक्ति की बात उठती रही है, पर वह इस उपन्यास के दायरे से बाहर की बात है।

इस रूप में इस कृति को वैचारिक अन्तर्कथाओं के घात-प्रतिघात की तरह पढ़ते हुए हम अनेक गौरतलब निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं। लगता यह है कि यह कृति यथार्थ की विसंगतियों पर दुधारी तलवार की तरह वार करती है। वह सरकार को ही नहीं, कथानायक को भी उसके अन्तर्विरोधों के रूबरू खड़ा करती है।

परन्तु कथा के तल पर कृति का ठहरा हुआ-सा रह जाना अखरता है।

अधिकांश पात्र एक खास व्यक्तित्व से बँधे-बँधाए तरीके से व्यवहार करते हैं। इससे होता यह है कि हम पहले से ही जान पा रहे होते हैं कि किसी खास स्थिति में वे क्या करेंगे? नतीजतन कथा पूर्व निर्धारित स्थितियों के उद्घाटन से अधिक कुछ खास नहीं कर पाती, परन्तु इस अभाव की पूर्ति अन्तर्वस्तु के सशक्त ताने-बाने से स्वत: हो जाती है। नतीजतन अपने समय की जरूरी समझ के लिए ऐसे उपन्यासों का पढ़ा जाना अर्थपूर्ण बना रहता है।

❑

सपनों की दुनिया में ब्लैक होल : एक अलग-अलग-सा उपन्यास

रमेश दवे

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल**'** संतोष चौबे का ऐसा उपन्यास है जो उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को और खासकर शिक्षकों, प्रशिक्षकों, प्रशासकों, वैज्ञानिकों एवं समाजकर्मियों (activists) को इस चुनौती के साथ आमन्त्रित करता है कि वे न केवल इसे पढ़ें, बल्कि अपने अन्दर की उस प्रकृति को भी खंगालें जो दो प्रकार की होती हैं– एक सत्य या यथार्थ की और दूसरी छद्म स्वार्थ और पाखण्ड की।

संतोष चौबे का यह उपन्यास रिपोर्ताज शैली में सरल अभिधात्मक भाषा में इतिश्चात्म और विस्तृत विवरणों के सामाजिक एवं वैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व के साथ रचा गया है। यह पठनीय इसलिए है कि यह प्रचलित उपन्यासों के फ्रेमवर्क को तोड़ता है, कथा के पारम्परिक तरीकों को डी-कंस्ट्रट करता है और यह भी सिद्ध करता है कि केवल रोमांस ही कथा का आकर्षण नहीं होता बल्कि यथार्थ का रोमांच भी प्रभावित करता है। यह उपन्यास सपनों के ऐसे सत्य का उपन्यास है जिसमें स्वप्नों का अपहरण होता है। ऐसे ब्लैक होल में, जो व्यवस्था का ब्लैक होल है और दूसरी ओर सत्य की जो उपेक्षा सत्ताएँ रचती हैं, उसकी भी यह न केवल व्यवस्था-कथा है, बल्कि कार्तिक के भंग सपनों की व्यवस्था है।

उपन्यास हो या कहानी, उन्हें सिर्फ मनोरंजन मानकर पढ़ना अपने आस-पास बिखरे सपनों और सत्यों की कथा से महरूम होना है। हम पश्चिमीकृत नवाचारों के संजालों में इतने उलझ गये कि अपनी जमीन की गर्मी ही खो बैठे। अपने ही लोगों से अपरिचित हो गये और अपने मानसिक धरातल को हीन समझने लगे। यह उपन्यास हीनता के मनोविज्ञान को खण्डित करता है, व्यवस्था के छद्मों को, षड्यंत्रों को और पाखण्डों को खोलता है और जड़ एवं पूर्वाग्रह से ग्रस्त मान्यताओं के संजालों को ध्वस्त करता है। यह सफलताओं की यात्राओं से असफलताओं के

घेरों को तोड़कर अपनी राह को स्वयं रचता है। इस दृष्टि से यह उपन्यास स्वावलम्बन, स्वाभिमान और सामूहिक सामर्थ्य का उपन्यास है।

सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि भले ही केन्द्र में कार्तिक-जैसा रचनादर्शी वैज्ञानिक व समाजकर्मी हो, मगर इसके वास्तविक हीरो तो वे हैं जो आम लोग हैं, आम कार्यकर्ता हैं, आम समाजकर्मी हैं। कार्तिक के स्वप्न, सत्य और सोच से निकलते प्रवाहों की गति के संचालक तो वे हैं जो ग्रामीण हैं, जंगलों, प्रान्तरों, जटिल इलाकों में रहकर अपनी अस्मिता गढ़ रहे हैं। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि यह सूचना का उपन्यास के साथ सोचने का भी उपन्यास है। इसे परफार्मिंग उपन्यास भी कहा जा सकता है।

हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने सूचना को तो अपनाया, मगर सोचना या तो बन्द कर दिया अथवा उस पर व्यवस्था की दिमागी लगाम लगा दी। संतोष चौबे ने एक प्रकार से कम्प्यूटर-क्रान्ति की यह ग्राम्य-कथा, अपने सत्य के ऐसे साहस से लिखी है जो स्वप्न के अनुभव को सत्य में बदलती है। अनुभव की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का यह अच्छा नवाचार है जो क्रियात्मक है।

इस उपन्यास को कथा की तरह पढ़ने के साथ एक अत्यन्त संवेदनशील दस्तावेज या रिपोर्ट की तरह भी पढ़ना हो गया, क्योंकि यह मात्र कथा नहीं है, बल्कि यथार्थों से भरा एक व्यावहारिक एक्शन प्लान (Action Plan) भी है। अधिकांश सरकार पालित प्रोजेक्ट अपने अन्तिम बिन्दु तक पहुँच कर या तो रिजेक्ट हो जाते हैं या व्यवस्था नये लालच के साथ नये प्रोजेक्ट को हथियाने में लग जाती है। व्यवस्था की विडम्बना यह है कि वह अपनी सुविधा का प्रोजेक्ट चुनती एवं चाहती है, न कि जन-सुविधा का। सत्ता के पास परमार्थ शब्द में छिपा स्वार्थ होता है और यह उपन्यास ऐसे छद्‌मों को ही केवल अनावृत नहीं करता, बल्कि ऐसे एन. जी.ओ. को भी कटघरे में खड़ा कर देता है जो धन के लालच में एन.जी.ओ. बनाते हैं और सरकारी तन्त्र से मिलकर अपने मूल उद्‌देश्य से भटक जाते हैं।

संतोष चौबे बहुमुखी सोच के व्यक्ति हैं। उनके कार्य एवं चिन्तन की भूमि एकल नहीं है। वे एक साथ शिक्षा, स्वास्थ्य, जन-विज्ञान, समाजकर्म, ग्राम-सम्पर्क लोकाचार, संस्कृति और लोक अस्मिता एवं आकांक्षा में प्रवेश के साथ अपने साहित्य-सृजन की दुनिया भी रचते हैं जिसका ही प्रतिफलन यह व्यावहारिक कर्म-समर्थित उपन्यास है। चलिए अब इसके कथास्वरूप को भी देखा जाए।

संतोष चौबे ने इस उपन्यास में पात्रों की निरर्थक भीड़ नहीं रची है। मुख्य चरित्र कार्तिक है, जो स्वयं का ही आत्मरूप है, अभिषेक बनर्जी है जो रंगकर्मी है एवं

संतोष की रुचि का सहभागी है, केन्द्र सरकार का जॉइंट सेक्रेटरी राजशेखर है जो नौकरशाह है एवं प्रत्यक्ष में कार्तिक के प्रोजेक्ट के प्रति सेन्सिटिव है और परोक्ष में प्रोजेक्ट को सेबाटॉज या छद्म रूप से धराशायी करना चाहता है। यहाँ संतोष का कथाकार हमारी ब्यूरोक्रेसी के दोगले चरित्र को अनावर्त करता है। कार्तिक एक संकल्पवान क्रियाशील व्यक्ति है। उसका विश्वास शासन में कम और जन में अधिक है। चूँकि वह एक्टिविस्ट भी है और विज्ञान यात्राओं में उसने जन की उत्साही एवं सहयोगी भूमिका देखी-परखी है और सफलता की ऊँची मीनारें खड़ी की हैं, इसलिए कार्तिक का आत्मविश्वास, व्यवस्था के षड्यंत्र से पराजय महसूस न करके, जन के विश्वास को अर्जित करने के प्रति आश्वस्त है। राजशेखर कितने भी ग्राम-संवेदी दिखाई दें, लेकिन कार्तिक का यह कथन कार्तिक का सत्य है– ''सबसे बड़ी दिक्कत ये है कि सरकार तलाश तो एक ग्रामीण मॉडल की कर रही है पर सोच शहरों की तरह रही है।''

कार्तिक यहाँ शहरी ब्यूरोक्रेट्स का दंभ ध्वस्त करते हैं और स्पष्ट कह देते हैं कि सरकार गाँवों को नहीं समझती, न उनकी भाषा में, न उनके लोकाचार में, न उनके एटीट्यूड में और न उनकी भूमिका में। यहाँ कार्तिक की उस संवेदन का भी पता चलता है जो ग्राम सेन्सिटिव (ग्राम संवेदी) तो है, लेकिन ग्राम कंस्ट्रक्टिव भी है। एक विज्ञान सम्मत विचार का प्रयोगशील व्यक्ति किस प्रकार अपने अनुभव के सत्य को साकार करता है, यह कार्तिक के चरित्र में प्रत्यक्ष होता है।

भाषा विज्ञान में दो शब्द प्रचलित हैं– एक 'कम्पीटेंस' और दूसरा 'परफॉरमेंस'। यह कार्तिक के कम्पीटेंस के परफॉरमेंस का क्रियात्मक कथा-शिष्य है जो शैक्षिक, वैज्ञानिक और प्रायोगिक या व्यावहारिक एक साथ है। ऐसी कथाएँ या उपन्यास लिखे जाना आवश्यक है ताकि वे केवल मनोरंजन की कृति न होकर क्रियात्मक सोच और प्रयोग की कृति बनें। यह उपन्यास यदि शैक्षिक पाठ्यचर्या में रखा जाए तो नयी-नयी अनुभव-जन्य कथाओं की रचना की जा सकती है।

कार्तिक ने जिस सोच की स्थापना की है, उसे न केवल शिक्षक या एक्टिविस्ट पढ़ें, बल्कि यह तो उन ब्यूरोक्रेट्स को भी पढ़ना चाहिए, जो जन-कल्याणकारी नीतियों का राजनीतिज्ञों से मिलकर ऐसा ब्लूप्रिंट बनाते हैं जो मंजिल तक ले जाने वाला रोडमैप न होकर बीच में ही दुर्घटनाग्रस्त होकर अदृश्य हो जाता है। इस उपन्यास के दो प्रमुख पात्र, कार्तिक और अभिषेक हैं– यह एक प्रकार से वैज्ञानिक लेखक और रंगकर्मी की जुगलबन्दी कही जा सकती है, क्योंकि कार्तिक ने देशभर में और विशेष रूप से बस्तर एवं नक्सली इलाकों में निडर कार्यकर्ताओं के साथ

जो कम्प्यूटर-क्रान्ति और साक्षरता एवं वैज्ञानिक सोच के आचरण अपनाये हैं, उनके अन्दर अनेक कथाएँ निहित हैं। इन कथाओं का एक-एक एपिसोड बनाकर एक सीरियल बनाया जा सकता है और हर कथा-दृश्य पर एक-एक नुक्कड़ नाटक खेला जा सकता है, जो जन-रुचि को प्रेरित करने का श्रेष्ठ तरीका है। उपन्यास एक प्रकार से यह भी कहता है कि जब विज्ञान और कला, सृजन और प्रयोग, वैज्ञानिक और कलाकार, कवि-कथाकार एवं रंगकर्मी एक साथ होते हैं तो एक ऐसी अहिंसक एवं मनोरंजक क्रान्ति आकार लेती है जिसमें जन स्वयं परिवर्तन का विजय ध्वज फहराता है।

सत्ताओं को प्रायः सामाजिक सफलताओं से चिढ़ होती है और विशेष-कर निजी संस्थाओं की सफलता से। सत्ता के चरित्र में बैठा डर सदैव यह सोचता है कि जन जाग गया तो उनका सिंहासन डोल जाएगा और उनके चमचमाते दफ्तरी चैम्बरों की आभा झोपड़ियों के आगे फीकी पड़ जाएगी। इसलिए कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में परिवर्तन के बीज मौजूद हैं, जिन्हें पहचान कर शिक्षा-क्रान्ति, विज्ञान-क्रान्ति और समाज-क्रान्ति की त्रिवेणी बहायी जा सकती है। संतोष चौबे ने इस उपन्यास से यह भी चुनौती दी है कि यदि जन-हितकारी कार्यों के प्रति सरकारी प्रयत्न ईमानदार होते और बार-बार हर परियोजना को अपूर्ण या आधे रास्ते में न छोड़ देते तो आज देश की शिक्षा, विज्ञान, समाज और विकास की चारों दिशाएँ जगमगा उठतीं। संतोष यह भी प्रकट करते हैं कि यदि कार्तिक जैसी समर्पित निष्ठा प्रोजेक्ट के प्रति हो और प्रोजेक्ट को जन-सम्बोधी बनाकर कार्य किया जाए तो चाहे डाकू-ग्रस्त क्षेत्र हो या नक्सली क्षेत्र, सब उस परियोजना के प्रति समर्पित हो जाते हैं। (खाकसार ने भी शिक्षक-समस्या योजना में मध्यप्रदेश के पैंतालीस जिलों और विशेषकर, बस्तर के नारायणपुर क्षेत्र में ऐसा अनुभव किया, जहाँ ग्रामीणों ने बताया था कि नक्सली इस प्रोजेक्ट के समर्थक एवं सहयोगी हैं।) इस प्रकार संतोष यह साबित करते हैं कि कार्तिक यदि ईमानदार इरादों से लोगों के बीच जाते हैं तो लोग, ग्रामीण-शहरी कार्यकर्ता स्वेच्छा से जुड़कर उत्साह से चुनौती भरे कठिन से कठिन काम के लिए भी तत्पर रहते हैं।

अपने एक्टिविस्ट दल का प्रशिक्षण करना, पंचायतों का सहभागी होना, ब्रेन-स्टोर्मिंग (Brain-storming) सत्रों से 40-50 युवाओं के उत्साही समूह को कौशल युक्त आत्मनिर्भर अर्थशास्त्र के प्रति उन्मुख कर देना एवं मीटिंग्स में खुली बहस एवं सुझावों के साथ काम करने की तत्परता पैदा करना, ये सब ऐसे प्रयास हैं जो ग्रामीण, आदिवासी एवं तथाकथित निरक्षर-पिछड़े क्षेत्रों की मानसिकता प्रकट

कर उन्हें अपने जीवन के साथ समाज के जीवन के उत्थान के प्रति प्रेरित कर सकते हैं। उन्हें स्थानीय संसाधनों और उपलब्ध कच्चे माल से तरह-तरह की उपयोगी वस्तुओं के निर्माण से उनके अर्थशास्त्र को निर्धनता से मुक्त करना, स्वालम्बी, स्वाभिमानी और सहयोगी बना देना ऐसा काम है जिससे निजी या गैर-सरकारी कार्यों के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ता है। घर-घर में काम, हर हाथ को काम, ग्राम का स्वाभिमान और विकेन्द्रित अर्थतन्त्र का यह उपन्यास गाँधी के हिन्द स्वराज की भी ध्वनि प्रकट करता है।

इस उपन्यास का एक पक्ष शिक्षाप्रद यानी डिडेक्टिक (Didectic) तो दूसरा पक्ष ऐतिहासिक, प्राकृतिक एवं भव्य भवनों एवं होटलों से हटकर खुले मैदानों में जीवित एवं जीवंत संवाद रचना की रणनीति से भी जुड़ा है। स्ट्रेटजी या रणनीति, शिक्षा या समाज कल्याण के लिए बहुत उपयोगी प्रक्रिया सिद्ध नहीं हो पायी, क्योंकि सरकारी रणनीति के पास न 'रण' था न 'नीति', यह तथ्य भी यह उपन्यास प्रकट करता है। कार्तिक का इतिहास, स्थापत्य, पुरातत्व, संगीत एवं लोकोन्मुखी जीवन-ज्ञान यह बताता है कि ज्ञान केवल जन को शिक्षा का पाठ पढ़ाना नहीं है, बल्कि उनके पास जो पारम्परिक ज्ञान है, उससे अपने ज्ञान को जोड़कर काम किया जाए तो लोग अपने-आप आते, जुड़ते और काम करने लगते हैं। सहयोग का अर्थ ही है, ऐसा योग जो साथ-साथ रहकर किया जाये। यह उपन्यास व्यक्ति का न होकर, समूह के नायकों का भी कहा जा सकता है।

संतोष का यह उपन्यास प्रचलित कथा प्रारूप से पृथक इसलिए है कि यह जीवन-कर्म सम्बोधी उपन्यास है न कि मात्र मनोरंजक कथा-प्रारूप। अभिषेक बैनर्जी और कार्तिक का परस्पर आत्मीय सम्बन्ध आगे बहुत अधिक तो नहीं हैं, लेकिन कार्तिक का केन्द्रीय चरित्र बने रहने की सीमाएँ भी हैं। कार्तिक स्वयं इस सीमा को खण्डित करता है जब वह अपने समूहों से जुड़कर समूह को ही केन्द्र बना देता है। कार्तिक का 'अपनों के सपनों' और मीडिया अथवा टी.वी. पर विज्ञापनों में 'मनुष्य से अधिक ब्राण्डेड कार का चित्र', यह विडम्बना भी जाहिर करता है कि हमारे औपचारिक मीडिया कितने संवेदनहीन एवं लोक जीवन विरोधी हैं।

इस उपन्यास में मन्त्री, सेक्रेटरी राजशेखर, कंसलटेंट त्यागी आदि की भूमिका से कार्तिक यह तथ्य भी उजागर करता है कि लोक-हितैषी बनकर एक लोकप्रिय काम में शामिल होना व्यवस्था की निष्ठा नहीं बल्कि झूठी प्रतिष्ठा अर्जित करने का प्रदर्शन है। संतोष ने यहाँ अपनी एक कहानी 'नौ बिन्दुओं का खेल' का भी

अच्छा उपयोग किया है जिसे भाषा-विज्ञान की भाषा में एम्बेडिंग (Embedding) कहा जाता है। भारतीय प्रबंधन संस्थान, सचिवालय, तथाकथित विशेषज्ञ, इन सबके बीच से कार्तिक को अपनी राह निकलती दिखती है तो लगता है, छद्म प्रयत्न, सत्य-प्रयत्नों के समक्ष किस प्रकार ध्वस्त हो जाते हैं। दफ्तरी चैम्बरों से गाँव को न देखा जा सकता है, न समझा जा सकता। इसलिए कार्तिक कहता है, ''मैं गाँवों को समझने के लिए गाँव जाता ही रहता हूँ।'' यहाँ दावे का वर्णन, चाय एवं खाने का, पान खाने का, एक साथ इन सबके होने को ग्रामीण अर्थशास्त्र की संयुक्तता पर भी कार्तिक ने ध्यान देकर यह बताया है कि यदि ग्रामीण विकास की सही संरचना बनती है तो बिखरे-बिखरे प्रयासों को एक साथ लाकर उनकी क्षमता बढ़ानी होगी।

इस उपन्यास के अन्त तक जाते-जाते ऐसा लगता है जैसे कार्तिक 'अपनों के सपनों' को बुरे सपनों से मुक्त कर उन सपनों की ओर ले जाना चाहता है, जो सपने ही नहीं, सत्य भी हैं, सार्थक भी हैं और जिनमें सफलता के अनेक तत्व मौजूद हैं। डीकंस्ट्रक्ट का अर्थ डिस्ट्रक्ट नहीं है बल्कि टेक्स्ट को उसके अनेक अर्थों में बाँटकर पढ़ना है। एक तथ्य भी इस उपन्यास से सिद्ध होता है कि भारत जैसे देश में केवल प्रेमचंद, जैनेन्द्र, रेणु, अज्ञेय, निर्मल वर्मा या कृष्णा सोबती तक या तमाम कथाकारों की कथाओं तक ही सीमित नहीं रहा जा सकता। हमें नोबेल पुरस्कार या बुकर्स के लिए उपन्यास नहीं रचना है, न ही किसी प्रेमकथा या रोमांस रचना, लेकिन साहित्य-सृजन और विशेष रूप से कथा-सृजन का एक दायित्व यह भी है कि वह जन-रुचि, जन-मानसिकता और सामान्य-जन एवं सामान्य पाठकों की रुचि में भी परिवर्तन करे। इस दृष्टि से यह एक परिवर्तन-मूलक मानसिकता का उपन्यास है।

उपन्यास के कथा-रूप बनाने का प्रयत्न अंग्रेजी या यूरोपीय भाषा में हुए हैं। वैसे यूरोपीय उपन्यास मॉडल में यदि हम चार्ल्स डिकन्स की बात करें तो वह बालगृहों की यातना का एक समाजोपयोगी वातावरण रचता है, डी.एच. लारेंस मनुष्य की वासना का रोमांच रचता है, लेकिन जब सोल्जेनित्सिन को पढ़ते हैं तो 'इनर सदीय' में या 'कैंसर वार्ड' में अस्पतालों की संवेदनहीनता प्रकट होती है, लेकिन शिक्षा को लेकर एक कृति 'स्कूल फॉर स्कैंडल' (शायद शेरिडन की कृति) ऐसी थी जिसमें षड्यंत्र की मानसिकता थी, टॉल्सटाय का 'वॉर एण्ड पीस' एक महाकाव्यात्मक कथा के साथ 'को-ऑपरेटिव्ज' तक की भी चर्चा करता है, दोस्येवस्की का 'क्राइम एंड पनिशमेंट' हिन्दी के उपन्यासकार जैनेन्द्र जी के 'त्याग-पत्र' की प्रेरणा बनता है और मानवीय रिश्ते कैसे बनते-बिखरते हैं, यह

बताता है, अमृतलाल नागर ग्राह्यग्रन की तरह अपने उपन्यासों के पात्रों की खोज में पर्यटन करते हैं, इनके सब सन्दर्भ देने का मतलब यह नहीं कि हम इन उपन्यासों को महानता की सूची में रखकर उनका गुंजगान करें, लेकिन इतना अवश्य है कि पश्चिमी उपन्यासों एवं कथा साहित्य में काफ्का, वर्जीनिया कत्फ, जेन आस्टीन, मिलान कुन्देरा, फूको आदि ने जो प्रयोग किये, वे भी इस बात का प्रतीक हैं कि कथा स्वयं अपने कथा-प्रारूपों से विचलन कैसे करती है।

शिक्षा को लेकर भारत में ज्यादातर कहानी या उपन्यास या तो बाल कथाएँ हैं या पौराणिक आख्यायिकाएँ। विज्ञान के रोचक प्रसंगों पर तो एच.जी. वेल्स और एसिमोव की तरह हिन्दी में कथा-साहित्य रचा ही नहीं गया। रस्किन बांड भी अँग्रेजी भाषा में बाल-सहित्य तक सीमित रहे। शिक्षा को लेकर एन.जी.ओ. को लेकर, विज्ञान को लेकर, कलाओं को लेकर कोई ऐसी कथा नहीं रची गयी। ऐसा क्यों हुआ? क्या हिन्दी के पास कथा की विविधता का व्योम नहीं है? क्या लोकोन्मुखी साहित्य, परीक्षा-सम्बन्धी साहित्य और विज्ञान रचनाओं के लिए केवल 'ब्लैक होल्ज' ही है? क्या जन के सपनों का उज्ज्वल आकाश नहीं है हिन्दी के पास? क्या सपनों को सत्य बनने के पूर्व ब्लैक होल में तिरोहित होना होता है? स्व. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम 'ड्रीम-बिग' (बड़े सपने देखो) का नारा देते थे, दिन में सपने देखने की प्रेरणा देते थे। क्या 'ड्रीम बिग' को लेकर हम कोई रचना कर सके?

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' जैसा उपन्यास अपने शीर्षक से तो यह बताता है कि कैसे सफलताएँ हमारी व्यवस्था के ब्लैक-होल में अदृश्य हो जाती हैं। संतोष का यह उपन्यास इस मायने में निराशा या उदासी का भी उपन्यास कहा जा सकता है, जिसके संकेत उपन्यास के प्रारम्भ में ही अभिषेक के साथ संवाद में दिखाई देते हैं। कार्तिक जैसा चरित्र केवल सपने देखता ही नहीं बल्कि उनको साकार करने के लिए प्रतिबद्ध भी है। मांडू एपिसोड, बस्तर एवं वहाँ के ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य का एपिसोड, डाकू एवं नक्सली क्षेत्र का एपिसोड रचकर संतोष ने कार्तिक के माध्यम से यह तो सिद्ध कर दिया कि ज्ञान केवल किताबों से ही नहीं, क्षेत्र में जाकर जन से लिया भी जा सकता है और जन को दिया भी जा सकता है।

उपन्यास के मेरिट्स, डी-मेरिट्स की चर्चा न करके इस उपन्यास को प्रसिद्ध विचारक इवान इलिय के 'डी-स्कूलिंग सोसाइटी' और 'सेलीब्रेशन ऑफ अवेयरनेस' या 'एल्फाबेटाइजेशन ऑफ दी पब्लिक माइंड' से जोड़ा जा सकता है। इसमें अनेक ध्वनियाँ पाउलो प्रेटे की पुस्तक 'पेडेगागी ऑफ दी आप्रेस्ड' और 'एज्यूकेशन दी प्रैक्टिस ऑफ फ्रीडम' की भी हैं। यह स्वयं लेखक के ज्ञान, अनुभव एवं क्षेत्र में

व्यावहारिक प्रयोगों की कथा है। यद्यपि ऐसे उपन्यास सामान्य कथा-पाठकों के लिए मनोरंजक नहीं हो सकते, फिर भी हमारे देश में एक बड़ा युवा लोक-समूह है, शिक्षक हैं जो देश के सात लाख गाँवों में उपलब्ध स्कूलों में शिक्षा का काम कर रहे हैं, उन सबके लिए तो यह एक कार्य पुस्तक या वर्क-बुक है। इसके साथ ही यह एन.जी.ओ. के लिए भी एक गाइड की तरह है। अन्य विशेषता यह है कि यह व्यवस्था को संदेश देती है कि वह केवल कागजी योजनाओं को न जीकर, जन के सपनों को सच करने का भी काम करे न कि कार्तिक जैसे उत्साही व्यक्ति के सपनों का 'ब्लैक होल' बनकर सपनों को अदृश्य करती रहे।

संतोष ने अपने संगीतात्मक उपन्यास के बाद पुन: शिक्षा, एन.जी.ओ. एवं ग्राम-संवेदी क्षेत्र के साथ जो कथा रची है, वह साहित्यिक आलोचनाओं की दृष्टि में भले ही एक टेक्स्ट-बुक जैसी लगे, लेकिन इसके पीछे के उन निहितार्थों को भी समझना होगा जो संतोष चौबे के संवेदन से रचे गये हैं।

उपन्यास भावुकता से मुक्त सत्य के प्रति संवेदित तो है, लेकिन यह उपन्यास यदि 'पंचतन्त्र' शैली में एक के बाद एक कथा-सूत्र में रचा जाता तो अधिक रोचक हो सकता था। भाषा के स्तर पर यह जन-सामान्य एवं विशेष-रूप से समाजकर्मियों को सम्प्रेषित होने में कठिनाई पैदा नहीं करता। शैलीगत विचलन केवल इतना है कि यह सीधा अभिधात्मक गद्य में रचा गया है। इसके अन्दर कई ऐसी अन्तर्कथाएँ भी हैं जो लेखक के अनुभव, उसके साक्षरता अभियान, विज्ञान-यात्रा, पुस्तक-यात्रा, लोक जीवन-यात्रा, ग्राम-यात्रा आदि के सच्चे संवेदन से जुड़ी हैं। इसलिए यह लेखक की अपनी ही सफलताओं और उपलब्धियों का उपन्यास कहा जा सकता है। जिस प्रकार लेखक के 'जल-तरंग' उपन्यास में भी इतिहास-शृंखला है, उसी प्रकार इस उपन्यास में भी इतिहास-गाथा है। इसलिए यह उपन्यास 'ज्ञान' और 'अनुभव' के प्रयोग का उपन्यास है, न कि सिर्फ कथा का। इसे उन लोगों को पढ़ना चाहिए जो लोकोन्मुखी परियोजनाएँ बनाते हैं, चलाते हैं और अन्तत: परिणामशून्य होकर व्यवस्था के 'ब्लैक होल' में चले जाते हैं। इस दृष्टि से संतोष ने 'ब्लैक होल' का रूपक भी इस उपन्यास में सार्थक किया है। अन्त में एक वाक्य में यह कहना पर्याप्त है कि 'ज्ञान अर्जित करना ही पर्याप्त नहीं, ज्ञान का लोक समर्पण एवं लोक-सम्प्रेषण भी आवश्यक है, जिसका प्रमाण यह उपन्यास है।' यह उपन्यास अनेक ऐसे लेखकों की प्रेरणा बन सकता है जो ग्रामीण, आदिवासी क्षेत्रों में काम करते हैं। वे अपने अनुभवों का कथा, कविता, उपन्यास एवं अन्य विधाओं में सृजन कर एक नए कथा-सत्य का आविष्कार कर सकते हैं।

❑

नव-उदार पूँजीवाद का ब्लैक होल और सपनों की दुनिया का यथार्थ

विनोद तिवारी

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' कथाकार संतोष चौबे का नया उपन्यास है। इसके पहले प्रकाशित उनके तीन उपन्यासों 'राग केदार', 'क्या पता कामरेड मोहन' और 'जल तरंग' पर हिन्दी जगत में खूब बहस और चर्चा-परिचर्चा हो चुकी है। संतोष चौबे बहुआयामी प्रतिभा के धनी व्यक्ति हैं। क्रिएटिविटी और कल्पनाशीलता ऐसी कि हर काम में सबसे भिन्न सोचते हैं। शिक्षा से लेकर साहित्य, कला, विज्ञान, तकनीकी, प्रौद्योगिकी आदि सभी क्षेत्रों में उनकी इस कल्पनाशील बहुमुखी रचनात्मकता को देखा-समझा जा सकता है। अपनी तमाम थकाऊ और कई बार पकाऊ व्यस्तताओं के बावजूद अपने लेखन को वह जिन्दा और सक्रिय बनाये हुए हैं, यह कम बात नहीं है।

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' संतोष चौबे की एक महत्त्वपूर्ण कहानी 'नौ बिन्दुओं का खेल' की उत्तरकथा है। 'नौ बिन्दुओं का खेल' ग्लोबलाइजेशन के साथ विकसित एक नई आर्थिक संरचना, नव-उदार पूँजीवाद या उसके चाल-चलन के आधार पर दिये गये नाम 'आवारा-पूँजी' का जबर्दस्त रचनात्मक क्रिटिक रचने वाली कहानी है। यह कहानी विजय माल्या, नीरव मोदी, मेहुल चौकसे वाली घटना के बहुत पहले लिखी गयी कहानी है। विजय माल्या, नीरव मोदी, मेहुल चौकसे जैसे लोग रमेश चन्द्र गुप्ता के विस्तृत नए संस्करण हैं। विजय माल्या, नीरव मोदी, मेहुल चौकसे जैसे अनेक लोग अपने रसूख और पूँजी की दलाली के बल पर बैंकों से हजारों करोड़ रुपए का कर्ज लेकर, बैंकों को चूना लगाकर और कम्पनियों को दिवालिया कर, शेयर होल्डर्स को उल्लू बनाकर और सरकार को अँगूठा दिखाते हुए किस तरह से इस देश से भाग जाते हैं और आज तक उन्हें यह देश पकड़कर वापस नहीं ला सका। 'नौ बिन्दुओं का खेल' कहानी इस पूरे खेल और उसकी

शानदार भँड़ैती का सटीक बयान है। 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' उपन्यास इस खुले खेल और उसकी नाइंसाफी को और ही संजीदगी और विस्तार से अनुभव की प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करता है। सत्ता-तन्त्र, उस तन्त्र को चलाने वाले बड़े बाबू (ब्यूरोक्रेट्स) और कॉरपोरेट के गठजोड़ को यह उपन्यास तार-तार करते हुए उन बदरंग चेहरों को हमारे सामने लाकर रख देता है, जो अनेक तरह की ऊपरी परतों और बनावटी चमक-दमक से आम जनता को भ्रमित करते हैं। सत्ता-तन्त्र के प्रतिनिधि मन्त्री जी, बाबू वर्ग के प्रतिनिधि राजशेखर और बिचौलिया पूँजीखोर त्यागी हमारे समय समाज में मौजूद ऐसे ही चरित्र हैं। भूमंडलीकरण के बाद विकसित नव-उदारवादी आर्थिक संरचना में 'याराना पूँजीवाद' (क्रोनी केपिटलिज्म) के मायावी विस्तार और जन-मन विरोधी गुणों को जानना-देखना हो तो यह उपन्यास एक जरूरी रचनात्मक 'पाठ' हो सकता है।

वस्तुत: देखा जाए तो भूमंडलीकरण ने धीरे-धीरे भारतीय राजनीति में दो तरह की प्रवृत्तियों को फलने-फूलने के लिए बहुत ही उर्वर जमीन मुहैया करायी। पहला, अकूत लूट, खसोट, बेईमानी और भ्रष्टाचार की संस्कृति का एक अबाध और निरापद तन्त्र (system) के रूप में विकास और दूसरा, धर्म और सम्प्रदाय आधारित कट्टर मानसिकता से संरचित साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद का उभार, विकास और उसका प्रबन्धन। आर्थिक उदारीकरण के नाम पर इस तरह का सरकारी भ्रष्टाचार और राष्ट्रवाद के नाम धार्मिक-साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काकर एक खास तरह के साम्प्रदायिक-उन्माद को रचने की राजनीतिक-धार्मिक मोर्चाबन्दी इससे पहले नहीं देखी गई। यह साम्प्रदायिक-उन्माद एक तरह से नव-आर्थिक उदारीकरण के बाद विकसित उस राजनीति की ही अनुकृति है, जिसने 'उपभोक्ता' और 'भक्त' दोनों को एक कर दिया। 'ट्रोल', 'लाभार्थी', 'लिन्चिंग' जैसे पद इसी सिलसिले से पैदा हुए हैं। इसमें भक्ति चाहे धर्म के प्रति हो, चाहे बाजार के प्रति, चाहे ईश्वर के प्रति हो, चाहे राष्ट्र के प्रति, 'कंज्युमरिज्म' में कोई फर्क नहीं पड़ता। 'क्रोनी केपिटलिज्म' कहीं और से नहीं, इसी तन्त्र और व्यवस्था से विकसित हुआ है। देश के ग्रामीण अंचलों के विकास और उन्नति के नाम पर तथाकथित राष्ट्रीयता और संस्कृति के नाम पर काम करने वाले देशी-विदेशी तमाम तरह के गैर-सरकारी संगठनों, संस्थाओं, कम्पनियों, डायस्पोराओं आदि के काम करने के तरीके और मकसद को आप खँगालिए। दूध का दूध और पानी का पानी हो जाएगा। उपन्यास में सरकार समर्थित मन्त्री जी की अपनी कम्पनी अपने चरित्र में इनसे भिन्न नहीं है। इसीलिए राष्ट्रीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक, आवासी से लेकर

अप्रवासी तक आपको 'राष्ट्र-भक्ति', 'राज-भक्ति' और 'धर्म-भक्ति' के नाम पर एक तरह का एक ग्लोबल मन-मिजाज मिलेगा। ऐसे लोग ही सकल पूँजी के अधिकांश हिस्से पर अधिकार जमाये बैठे हैं। वहीं हर तरह की योजनाओं-परियोजनाओं के संचालक और नियन्ता हैं। पर इस देश को अपनी मेहनत और पसीने से सींचने वाले आदिवासियों, किसानों, मजदूरों, मेहनतकश लोगों की भागीदारी इन योजनाओं-परियोजनाओं में तकनीकी अक्षमता के नाम पर न के बराबर है। ये लोग इनके लिए बस श्रम मात्र हैं, सहयोगी नहीं। यह उपन्यास सहयोगी बनाये जाने की इस भावना को, उनकी सक्रिय कौशलपूर्ण भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए उन्हें तकनीकी-कुशल बनाने का ब्लूप्रिन्ट तैयार कर हमारे सामने रखता है।

उपन्यास अपने कथन और कथ्य के निर्दिष्ट लक्ष्य और उद्देश्य में अत्यन्त सफल है। पूर्व-प्राप्त लक्षीभूत निष्कर्ष के चलते कथानक एकायामी और गँठा हुआ है। जिसके कारण वर्णन इकहरा किन्तु सधा हुआ और प्रभावी बन पड़ा है। इसलिए उपन्यास संरचना की दृष्टि से निर्दोष है। अगर अँग्रेजी के एक कथन का सहारा लिया जाए तो ठीक वैसा ही– 'ए विशफुल इमेज इन मिरर' (दर्पण में इच्छाजनित बिम्ब)। उपन्यास का नायक कार्तिक त्रिवेदी (जिसे लेखक का अक्स मान सकते हैं) वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न एक ऐसा उद्यमी है, जो तकनीकी और प्रौद्योगिकी से लैस शिक्षण को भारत के सुदूर गाँवों तक ले जाने का सपना देखता है। इस मामले में वह एक ऐसा कल्पनाशील वैज्ञानिक है जो यह मानता है कि गाँव के लोगों तक पहुँचना और उनको अपने साथ जोड़ना मुश्किल नहीं है, बशर्ते आपकी मंशा साफ हो और नीयत स्पष्ट हो कि आप जो कर रहे हैं, करने वाले हैं, उसमें उन लोगों की सहभागिता और भावी जीवन की सम्भावना कितनी है। कल्पनाशीलता जहाँ वैज्ञानिक चेतना सम्पन्न दृष्टि का गुण है, वहीं छल, छद्म, ठगी, कपट और अमूर्त व भ्रामक विचारों से दूरी उसका सबल पक्ष है। कार्तिक त्रिवेदी की ताकत यही है। यही ताकत उसे विवेकशील नवता, बदलावजनित नवोन्मेष, तार्किक नियोजन, बौद्धिक साहस और मानवीय श्रम के प्रोत्साहन की समझ देती है। वह यह जानता है कि अपने व्यावसायिक हित को साधते हुए भी कैसे बेहतर समाज विकसित करने और बनाने के लिए सबसे पहले उन जातीय समाजों, समूहों और लोगों से जुड़कर, उनकी जरूरतों के साथ परिस्थितियों को समझते हुए, उनमें बदलाव की भावना पैदा करनी होगी। इस अर्थ में वह एक ऐसे व्यावहारिक मार्क्सवादी की तरह सोचता है जिसके पास सामाजिक-आर्थिक बदलाव का सपना है। उसको पूरा करने की उसके पास एक सार्थक कार्य-योजना है। कुशल नीति और युक्ति है। वह

विनम्र और मृदु किन्तु अडिग व्यक्तित्व का स्वामी है। उपन्यास के एक पात्र त्यागी और कार्तिक के बीच हो रहे इस वार्तालाप से इसे समझा जा सकता है– ''कार्तिक मुझे बड़ा आश्चर्य होता है यह देखकर कि सभी लोग तुम्हारे चरण स्पर्श करते हैं। मैं मना करता हूँ पर ये नहीं मानते। मुझे अपने बड़े भाई या घर के अग्रज की तरह समझते हैं। फ्रेंचाइजी के साथ मैंने इस तरह की रिलेशनशिप पहली बार देखी है। ...असल में अगर हम टेक्नॉलॉजी को समाज से विच्छिन्न कोई चीज मानते हैं तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता, लेकिन अगर हम समाज को साथ लेकर चलें तो वह उसे गहराई से अपनाता है। इसके लिए आपको सामाजिक परम्पराओं के साथ-साथ चलना होगा। मैं इनके सुख-दु:ख का साथी हूँ। तो ये भी मेरे साथ खड़े रहते हैं।''

कार्तिक एक प्रोजेक्ट तैयार करता है, जिसकी थीम है– इन्फार्मेशन टेक्नॉलॉजी की ताकत और ग्रामीण भारत। भारत के ग्रामीण इलाकों के पढ़े-लिखे लोगों को कैसे तकनीकी-सुगम बनाया जा सके। इस प्रोजेक्ट के ठोस आधार हैं तीन स्तम्भ– हिन्दी में काम-काज, गाँवों-कस्बों में केन्द्र स्थापित करना और बहुप्रयोजनीयता (मल्टी पर्पजनेस)। अपनी क्षमता और प्रतिभा से कार्तिक ने स्वयं 1000 केन्द्र बनाये। इन केन्द्रों पर काम कैसे होता है इसका एक नमूना– 'हमारी एक छोटी-सी टीम है, जो रिसोर्स सेन्टर का काम करती है। हम हिन्दी में प्रशिक्षण सामग्री तैयार करते हैं। प्रशिक्षित करते हैं, केन्द्रों की स्थापना में मदद करते हैं, उनके लिए काम और सेवाएँ एकत्र करते हैं। इसके एवज में रिसोर्स सेन्टर भी कुछ सलाहकार-शुल्क चार्ज करता है। पूरा सिस्टम सस्टेनेबल है और आगे बढ़ रहा है।' अब इसी प्रयोग और उपलब्धि को (ट्राइड और टेस्टेड मॉडल को), अपने ड्रीम प्रोजेक्ट को, कार्तिक बड़े स्तर पर फैलाना चाहता है। वह देश की प्रत्येक ग्राम पंचायत में 'कम्प्यूटर तकनीकी दक्षता' का एक केन्द्र स्थापित करना चाहता है। स्वाभाविक है कि इतने व्यापक पैमाने पर केन्द्र खोलने के लिए उसके पास संसाधनों की कमी है जिसके लिए वह सरकारी अनुदान और सहयोग पाने की प्रक्रिया शुरू करता है, पर शासन, प्रशासन और कार्पोरेट की मिली-जुली सत्यानाशी मंशा ने उसके सपने को न केवल तहस-नहस करने की कोशिश की बल्कि उसे मन्त्री जी, त्यागी और राजशेखर की तिकड़ी ने मिलकर हाईजैक कर लिया और कार्तिक को बाहर का रास्ता दिखा दिया– 'गवर्नमेंट द्वारा स्थापित कम्पनी ने पूरा नेटवर्क हथिया लिया और कार्तिक जैसे लोगों को, जिन्होंने नेटवर्क खड़ा किया था, दस सालों तक कड़ी मेहनत की थी, बाहर का रास्ता दिखा दिया गया। अब देश की लगभग 1,00,000

पंचायतों तक सरकार सीधे पहुँच सकती थी और मन्त्री जी उन तक सीधे पहुँच सकते थे। उन्होंने जल्दी ही अपनी इस कम्पनी को, जो असल में एक प्राइवेट कम्पनी थी, सरकारी घोषित करवा लिया और हजारों करोड़ रुपए के बड़े-बड़े काम, बिना किसी टेंडर के सिर्फ नॉमिनेशन के आधार पर लेने लगे। एक बड़े अँग्रेजी अखबार के रिपोर्टर ने इस पर एक 'एक्सपोजे' भी तैयार किया था जिसमें बताया गया था कि मन्त्री जी इस नेटवर्क में अपना और पार्टी का पैसा भी घुमा रहे हैं, पर उस रिपोर्ट को छपने के पहले ही दबा दिया गया। अब मन्त्री जी अक्सर टेलीविजन पर किसी सुन्दर-सी एंकर के साथ खुद की पीठ थपथपाते, परियोजना का श्रेय लेते और सरकार की तारीफ करते नजर आ जाते थे।' बाकी इसके एवज में राजशेखर और त्यागी जैसे लाभार्थियों का जो लाभांश था, वह उन्हें मिल गया। सूचना और तकनीकी विभाग में संयुक्त सचिव राजशेखर को सेक्रेटरी बना दिया गया और त्यागी पाँच साल के लिए व्यावसायिक सलाहकार बना लिया गया। प्रोजेक्ट के छिन जाने और अपने बेहतरीन सपने के साथ हुए दुराचार से बुरी तरह टूटा हुआ हताश कार्तिक को एक भयावह सपना आता है– ''मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है, जो धमन-भट्टी (ब्लास्ट फर्नेस) की तरह है, जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है– सतत प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है। मेरे देखते-देखते ही वह मशीन एक ऑटोमेटन में बदल गयी जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब ऑटोमेटन में खींचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल जैसा कुछ था, जो उन्हें सोख रहा था। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में ही परिवर्तित हो गयी और क्या हो रहा है, यह दिखना बन्द हो गया।''

परन्तु यहीं पर इस भयावह सपने के साथ ही सिनेमाई अन्दाज में यह उपन्यास समाप्त नहीं हो जाता। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है कि कार्तिक अपने सपनों और अपनी उम्मीदों को लेकर हमेशा आगे बढ़ते रहने वाला नायक है। पर अभी उसकी सोच के साथ, उसकी क्रिएटिविटी के साथ, उसके सपने के साथ जो हुआ है, उससे वह निजात कैसे पाये। कोई तो समाधान हो निकलने का, आगे बढ़ने का। एक समाधान उसकी सहयोगी नन्दिता के पास है। पर नन्दिता द्वारा दिये गये

समाधान को पाठक कैसे स्वीकार सकेगा, यह बहसतलब होगा। क्योंकि जो प्रोफेशनल समाधान नन्दिता द्वारा दिया जाता है और जिसे कार्तिक बिना गुने-मथे अच्छा मानकर स्वीकार कर लेता है, वह समाधान एक उद्यमी के लिए व्यावसायिक समाधान तो हो सकता है, जैसा कि प्राय: व्यापारी-वर्ग करता है, पर पूरे उपन्यास में जिस तरह के नायकत्व की रचना कार्तिक के किरदार में की गयी है, पाठक को उससे धक्का लग सकता है– 'सारी बात सुनकर नन्दिता ने कहा, कार्तिक तुमने ब्लैक होल की बात की थी। तो हमें यह भी मालूम है कि जो चीजें ब्लैक होल के पास जाती हैं, वह उन्हें अपने अन्दर खींच लेता है। समाधान ब्लैक होल से दूर रहने में है। आप उससे इतना दूर रहें कि उसका गुरुत्वाकर्षण आपको प्रभावित न करे।' इसे पलायन तो नहीं कहा जा सकता पर रास्ता बदल लेना भी नहीं कहा जायेगा। यह तो समस्या से खुद को दूर कर लेना है। पर क्या इससे समस्या दूर होती है? इसलिए इस समाधान को न तो हम गाँधीवादी समाधान कह सकते हैं और न ही मार्क्सवादी। इसे बुद्ध का मध्यम-मार्ग भी नहीं कहा जा सकता। कार्तिक जैसा कल्पनाशील और वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न क्रिएटिव व्यक्ति इस समाधान के द्वारा समस्या से तात्कालिक मुक्ति तो पा जाता है, पर आवारा-पूँजी या याराना पूँजीवाद (क्रोनी केपिटलिज्म), सत्ता और शासन-प्रशासन के बिचौलियों के गुरुत्वाकर्षण से कब तक मुक्त रह सकता है? इसलिए इसे उपन्यास का अंत नहीं कह सकते। अभी यह उपन्यास आगे लिखा जाना बाकी है। कार्तिक को उस दसवें बिन्दु की तलाश करनी होगी जो 'नौ बिन्दुओं के खेल' में संकेतित है। उस कहानी के प्रारम्भिक बिन्दु और आखिरी बिन्दु पर जो खुला सिरा छोड़ा गया था, उसको पकड़ कर रमेश चन्द्र गुप्ता जैसे व्यवसायी की तरह पूँजी से पूँजी बनाते रहने के अनन्त खेल की तरह खेलते रहने की बजाय एक अर्थवान, सार्थक रचनात्मक विकल्प पाने और देने की कोशिश होनी चाहिए। एक विकल्प 'विश्वरंग' जैसा परस्पर जोड़ने वाला आयोजन भी हो सकता है। इसी तरह के अन्य विकल्प तलाशे जा सकते हैं जो परस्पर सेतु का काम करें। वर्तमान की दृष्टि-सीमा होती है, पर भविष्य असीमित होता है इसलिए उसकी कोई एक निश्चित सम्भावना नहीं, बल्कि उसमें अनेक सम्भावनाएँ होती हैं, हो सकती हैं। इस नव-उदार पूँजीवादी संरचना वाले अर्थतन्त्र में हम सबको पता है कि साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में घुसपैठ कर यह पूँजीवाद किस कदर हमारी छोटी-बड़ी बहुविध कल्पनाओं, सक्रियताओं, तार्किकताओं, सुन्दर सपनों, उनके क्रियान्वयन के तरीकों आदि को फेंट-फाँट कर अपने मतलब और फायदे के ही करतब करवा लेता है।

असल में समझने वाली बात यह है कि ''पूँजीवाद हमारी क्षमताओं का उपयोग ही नहीं करता बल्कि उसे विनष्ट भी करता है। वह हमारे सपनों की उड़ान को गतिहीन और जड़ बनाता है और हमारी सांस्कृतिक-राजनीतिक नीति को अपने फायदे के लिए स्वयं में समाहित कर लेता है।'' अत: उम्मीद है कि संतोष चौबे का अत्यन्त आत्मीय और प्रिय नायक कार्तिक त्रिवेदी अपने अगले उपन्यास में, इन सब बिन्दुओं पर संजीदगी से सोचते हुए एक नयी सोच और उसका खाका लेकर उपस्थित हो सकेगा।

❑

प्रखर रचनाशीलता के सपनों की धूप-छाँव

डॉ. राजकुमार

उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' संतोष चौबे की उपन्यास-लेखन-यात्रा का चौथा पड़ाव है। इससे पूर्व आपके 'राग केदार', 'क्या पता कॉमरेड मोहन' और 'जल तरंग' उपन्यास प्रकाशित हुए हैं।

उपन्यास 29 छोटे-बड़े अध्यायों में आज के प्रखर रचनाशीलता से भरे हुए युवाओं के आकांक्षी मन के प्रश्नों और सपनों की धूप-छाँव को लेकर बुना गया है। वे युवा, जो अपनी कर्मठता और रचनात्मकता से देश-दुनिया की तस्वीर बदलने का जज्बा रखते हैं, लेकिन उन्हें इस बात का आभास नहीं है कि 'सरकार ही सबसे बड़ी कॉर्पोरेट है' या 'कॉर्पोरेट की ही सरकार है'। यह कॉर्पोरेट जनता के धन, मेहनत और ऊर्जा का ब्लैक होल है। युवाओं की 'क्रिएटिविटी का उत्प्रेरक-विष' है। उपन्यास में इस ब्लैक होल से बचने का रास्ता खोजने का यत्न किया गया है।

संकट 'ब्लैक होल' में समा जाने का नहीं, बल्कि उस व्यवस्था में रहते हुए भी अपनी क्रिएटिविटी को न खोने देने का भी है।

हम देश की सामाजिक तथा वैचारिक विविधता को दरकिनार करके टेक्नॉलॉजी को समाज-निरपेक्ष मानने वाली व्यवस्था में रह रहे हैं। उपन्यास 'सामाजिक उद्यमिता' पर बात करता है और ये रेखांकित करता है कि समाज और सामाजिक परम्पराओं की गहन समझ ही सामाजिक बदलाव का ऊर्जा-केन्द्र है। 'समाज– विच्छिन्न उद्यमिता' ज्यादा समय नहीं टिक सकती। जरूरत है सामाजिक परियोजनाओं में समाज के लिए स्पेस बनाए रखने की। उनके विचारों को भाषायी आतंक से मुक्त रखने की।

भारत जैसे देश में आज मोबाइल-कम्प्यूटर जैसी सूचना प्रौद्योगिकी गाँव-गाँव तक पहुँच गई है। हम धड़ल्ले से यह कहते हैं कि आजकल तो सब कुछ ऑनलाइन हो गया है। इसकी जमीनी हकीकत क्या है? शायद ही किसी सरकारी

आँकड़ों में यह दर्ज हो। सार्वजनिक-निजी-पार्टनरशिप में सरकार किस प्रकार से अपने 'रचनात्मक-बाँझपन के इस्केप मैकेनिज्म' के चलते एक ऐसे ब्लैक होल में तब्दील हो गई है जिसमें छोटे उद्यमियों का श्रम और उनकी रचनात्मकता गुम होती जा रही है। उनकी आँखों के सामने उनके सपने नाइटमेयर (दु:स्वप्न) में बदल रहे हैं। यह उपन्यास इससे एक कदम आगे की बात करता है जहाँ वह अपने सपने को खो देने के बजाय उस ब्लैक होल से स्वतन्त्र क्रिएटिविटी का स्पेस रचने की राह दिखाता है।

उपन्यास के प्रारम्भ के दो पात्रों के संवाद में एक उद्यमी चरित्र दिखता है– 'कार्तिक'। परेशान युवा वर्ग उदासी की अँधेरी खोह में है, दर-दर भटकता हुआ। अब प्रश्न गाँधी या नेहरू के सपनों का नहीं; आजादी का सही अर्थ क्या है, इसका भी नहीं। उसके पास एक समकालीन प्रश्न है, उत्तर भी उसे पता है लेकिन अपने को शक्तिहीन देखकर वो सपने में ही अफरा-तफरी मचा देना चाहता है।

उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते दु:स्वप्न से मुक्ति पाने के रास्ते के तौर पर वह क्रिएटिविटी को ही अपना विकल्प चुनता है। यकीनन उपन्यास के संवाद पढ़ते हुए सरकारी तन्त्र की पोल-पट्टी खोलने वाले कृष्ण चंदर की कहानी 'जामुन का पेड़' या हरिशंकर परसाई के 'मातादीन चाँद पर' की याद आने लगती है।

उपन्यास में पब्लिक-प्राइवेट-पार्टनरशिप (पीपीपी) को युवाओं के 'बिगिनिंग ऑफ द एण्ड' (खात्मे की शुरुआत) के तौर पर प्रस्तुत किया गया। उपन्यास की कुछ पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में देखें–

'...जनता रचनात्मक बनी रहती है। रचनात्मक बने रहना जनता की जरूरत भी है और फितरत भी। फिर कोई रचनात्मक प्रयोग बड़ा हो जाता है। सरकार जिसकी निगाह हर समय ऐसे प्रयोगों पर रहती है, उसे लपक लेती है। फिर वह उसे और बड़ा करती है, इतना कि वह मूल प्रयोगकर्ता के हाथ से निकल जाए। फिर वह उसे हथिया लेती है। अब उसके नाम से वर्ल्ड बैंक से धन आता है (उन्हें भी अपना धन किसी न किसी को देना ही है), उसका तिया-पाँचा किया जाता है, श्रेय और इन्टरनेशनल पोस्टिंग लुटे जाते हैं। इसके बाद पीपीपी के लिए नए आइडिया की तलाश शुरू होती है। पीपीपी की सड़कों में गड्ढे हो जाते हैं, प्रोजेक्ट अधूरे रह जाते हैं और जहाँ उत्साह तथा समृद्धि का संचार होना था वहाँ निराशा फैल जाती है, पर सरकार को फर्क नहीं पड़ता। वह नए सिरे से नए विचार के साथ पीपीपी शुरू करती है।' (पृष्ठ संख्या 113)

अपने नए विचारों की चोरी को सरकारी जामा पहनाये जाने के बाद युवाओं के

पास कुछ भी नहीं बचता। किसी भी आइडिया के मूल आविष्कारक के महज सर्विस प्रोवाइडर बन जाने की व्यथा-कथा भी उपन्यास का महत्वपूर्ण हिस्सा है। कठिन से कठिन परिस्थितियों से भी सरकार को बाहर निकाल लेने में निपुण स्ट्रेटजिस्ट (उपन्यासकार के शब्दों में 'चतुर सुजान') के असल चेहरे भी इस उपन्यास में बेनकाब होते दिखाई देते हैं।

उपन्यास में 40 से भी अधिक पात्र हैं। मन्त्री, सरकार के बड़े अधिकारी, मालवा, भिलाई, छतरपुर, बैतूल से लेकर रायपुर के आदिवासी इलाकों का युवा वर्ग उपन्यास के चरित्र हैं। लेफ्ट विंग एक्सट्रीमिस्ट (एल.डब्ल्यू.ई.) कहे जाने वाले दंतेवाड़ा से सुकमा क्षेत्र की आदिवासी बस्तियों में भी उपन्यास पहुँचता है। जल, जंगल और जमीन पर निर्भर, आदिवासी वर्ग के सवाल, लक्ष्मैया वासन, भीमैया, मुराराम, पत्ती राम, कहारू, सकारू, सोनी मरकाम, समारू, बुधराम जैसे सशक्त चेहरे उठाते हैं। इसी सन्दर्भ में उपन्यास की आदिवासी स्त्री पात्र लक्ष्मैया वासन का कथन देखें–

''...विरोध विकास का नहीं है। विरोध इस बात का है कि हमें उसमें शामिल नहीं किया जा रहा। सदियों से हमारे पूर्वज इस क्षेत्र में रह रहे हैं। अगर आप हमारे पारम्परिक कामों को खत्म कर हमारी जमीन पर बड़े-बड़े प्रोजेक्ट लगाएँ तो उनमें हमें भी शामिल करिए...'' (पृष्ठ संख्या 96)

जल, जंगल और जमीन को हथिया कर उसे अपने लाभ के लिए प्रदूषित कर देने की पीड़ा के सन्दर्भ में बुधराम का यह कथन देखें–

''यह प्रोजेक्ट हमारे पहाड़ों का क्या कर रहे हैं? आप बैलाडीला माइन्स के कारण लाल हो चुकी शंखिनी-डंकिनी नदियों को देखिए। कितने लोग उन्हीं का पानी पीते हैं और बीमार पड़ते हैं, मरते हैं। उनकी किसी को चिन्ता नहीं...'' (पृष्ठ संख्या 96)

किसी भी तकनीकी सामाजिक प्रयोग के लिए समाज के इतिहास को जानना आज की जरूरत है। इस जरूरत को पहचानते हुए उपन्यास में गाइड 'छोटेलाल शास्त्री' का चरित्र गढ़ा गया है। मांडू से जुड़ा इतिहास और संस्कृत उपन्यास का अभिन्न हिस्सा है। मांडू के राजा बाज बहादुर और रानी रूपमती की प्रेमकथा लोक प्रचलित है। उपन्यास इसके जरिये सोलहवीं सदी के मांडू में भी अपने पाठक वर्ग को ले जाता है।

'...सिर्फ नई इमारतों का नवनिर्माण, भयानक युद्ध, राजधानी बदलने के आईने से इतिहास नहीं देखा जा सकता। इतिहास का अमूर्त हिस्सा भी इस उपन्यास के

जरिये दिखाई देता है।'

'...फिर करवट लेती एक नई सभ्यता और शेरशाह सूरी के स्मारक पर बैठा एक पक्षी, सूनी आँखों से ताकता, शायद यह पूछता कि कहाँ गये वे लोग, कहाँ गयी वह पूरी भव्यता, पूरी सभ्यता? फिर अचानक चमकती एक नदी नर्मदा, अपने सतत प्रवाह में बहती हुई...' (पृष्ठ संख्या 51)

लेखक की आँखों के कैमरे में कैद भावचित्र जब अपने रचनात्मक दबाव को झेलते हुए विचार रूप में बाहर आते हैं तो कभी-कभी उसे कहने का ढंग पाठक के मन में व्यवस्था के प्रति नैराश्य को गहरा देता है कि हमारे समाज का कुछ नहीं हो सकता। पाठक के साथ-साथ यह लेखक के लिए भी परीक्षा की घड़ी होती है। वह अपने पाठकों को इस ब्लैक होल में जाने देने से कैसे रोके। यह उपन्यास इसी कशमकश को साधने का प्रतिफल है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस ढंग के ज्यादा उपन्यास हिन्दी में नहीं लिखे गये हैं। उपन्यासकार बधाई का पात्र है। उसने एक अलग ढंग का उपन्यास हिन्दी के पाठक वर्ग को उपलब्ध करा दिया है, जिसकी चर्चा लम्बे समय तक होती रहेगी।

❑

संघर्षशील स्वप्नजीवी युवा और सत्तातन्त्र के ब्लैक होल!

प्रकाश कान्त

इस उपन्यास का उत्स एक तरह से संतोष चौबे की ही बहुत पहले छपी लम्बी कहानी 'नौ बिन्दुओं का खेल' में है। जिसका पात्र कार्तिक जहीन है। उसमें एक खास तरह का नैतिकता बोध है। बैंक और बाजार की वह गहरी समझ रखता है। यह कहानी आज के व्यवसायी, बैंक इत्यादि की मिलीभगत से होने वाले लगभग सामान्य हो चुके खेल को उद्‌घाटित करने वाली महत्त्वपूर्ण कहानी थी। जिस पर कुछ साल पहले वरिष्ठ कथाकार रमाकान्त श्रीवास्तव ने कहानी का एक तरह से पुन:पाठ करते हुए 'कथादेश' के एक अंक में काफी विस्तार से लिखा भी था। इसी कहानी का नायक कार्तिक इस उपन्यास का भी नायक है। वह अपने मित्र नाट्यकर्मी अभिषेक बैनर्जी की तरह शास्त्रीय संगीत का गम्भीर श्रोता है और एक सफल सामाजिक उद्यमी की तरह प्रतिष्ठित हो चुका है। वह सूचना तकनीक के माध्यम से स्थानीय ग्रामीणों को जोड़कर उनके ही सहयोग से रोजगार और प्रशिक्षण का एक नया मॉडल विकसित करता है। वह एक स्वप्नदर्शी और नवाचारी युवा है। उसका एप्रोच बहुत साफ जमीनी और व्यावहारिक है। वह ग्रामीण युवाओं के रोजगार एवं प्रशिक्षण का काम स्थानीय भाषा और जमीनी जरूरतों के हिसाब से करता है। उसका मॉडल बहुउद्‌देशीय है और सफल है।

यह कार्तिक अपने देखे एक सपने को लेकर परेशान है, जिसमें उसने देखा है कि कैसे एक केन्द्रीय मन्त्री टी.वी. पर अपने सहयोगियों की मदद से एक राष्ट्रव्यापी सफल योजना, जो असल में ठीक ढंग से लागू ही नहीं हुई, का बखान कर रहा है। कार्तिक जिससे चिढ़कर और सपने में ही टी.वी. में घुसकर हंगामा खड़ा कर देता है। वह अभिषेक को इस सपने के बारे में बताता है। अभिषेक इस सपने के पीछे मौजूद रहे कार्तिक के तमाम काम और अनुभवों के बारे में विस्तार

से सुनता है और उसे ही 'सपनों की दुनिया के ब्लैक होल' शीर्षक से सिलसिलेवार एक कहानी की शक्ल देता है। यह उपन्यास असल में अभिषेक की लिखी कहानी है। उपन्यास एक तरह से कथा के भीतर की कथा है। जो उपन्यास में चौदह-पन्द्रह पृष्ठों के बाद शुरू होती है। कथा की शुरुआत का समय दस वर्ष पूर्व का है और वह 'नौ बिन्दुओं के खेल' के आगे की कहानी है।

कोई उपन्यास अगर सिर्फ मोटे तौर पर एक आख्यान नहीं है, अपने सारे छोट-बड़े ब्यौरों के बावजूद तो फिर निश्चय ही वह उन ब्यौरों के बीच से किसी भिन्न वैचारिक निर्मिति में लगी रचना है। जो अपना लक्ष्य कथा के जरिये हासिल करना चाहती है और ऐसा बेशक, कथा की प्राथमिक शर्तों पर! सन्तोष चौबे का पिछला उपन्यास 'जलतरंग' शास्त्रीय संगीत की जमीन पर खड़ा था और कथा आस्वाद के बिलकुल भिन्न क्षेत्र में ले जाता था। शास्त्रीय संगीत जैसे कुछेक विषयों पर हिन्दी में कम उपन्यास हैं। बहरहाल, उनका यह ताजा उपन्यास अपने विमर्श में उनके कई साल पहले आये बड़े उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन' के एक तरह से नजदीक है। इस अर्थ में कि उस उपन्यास की अन्तर्वस्तु भी सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तनकामी सक्रियताओं से जुड़ी हुई थी। ये दोनों उपन्यास अपने कथा विन्यास में कहीं एक खास तरह के मोहभंग तक पहुँचते हैं। हालाँकि दोनों की कथा-भूमि एक-दूसरे से काफी अलग है। जबकि दोनों में कुछ जरूरी बुनियादी बदलावों और बेहतरी के सपनों को हकीकत में बदलने की कोशिशें मौजूद हैं।

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' की कथा की पृष्ठभूमि में बिलकुल ताजा 'आज' है। इस आज के पीछे है विगत तीस दशकों में यत्नपूर्वक विकसित की गई कार्पोरेट संस्कृति! जो संविधान की उद्‌देशिका में समानता के लक्ष्य को दफना चुकी है। उस जमीन पर थैलीशाहों का विशाल हरा-भरा जंगल लहरा रहा है। इस 'आज' में स्वरोजगार, आत्मनिर्भरता, स्टार्टअप वगैरह की जो विभिन्न आवाजें इधर प्रमुखता से सुनाई देने लगी हैं, उपन्यास की कथा उन्हीं के बीच खड़ी है। उसमें बिलकुल इस 'आज' के सवाल हैं और उनके जवाब तलाश करने की छटपटाहट और कोशिशें भी! यह सब तो है, लेकिन असल चीज है प्रशासनिक तन्त्र की वह धूर्तता, धोखाधड़ी और छल जो ऐसी कोशिशों के साथ किये जाते हैं। बहुत सफाई से और कथित नियम, कानून और प्रावधानों की आड़ में। मूलकथा युवाओं के सपनों और प्रयासों के साथ ब्यूरोक्रेसी द्वारा किये जाने वाले छल की है। ब्यूरोक्रेसी जिसका डी.एन.ए. मूलत: ब्रिटिश शासन से मेल खाता है। उसका आदि गोत्र उसी

शासन का गोत्र है, बल्कि वह वैध-अवैध सन्तान भी उसी शासन की है। पिछले लगभग दो सौ सालों में यह संस्था विकसित और प्रशिक्षित ही इस तरह हुई है कि वह सत्ता के सही-गलत हित साध सके, साथ-साथ अपने भी राजनैतिक सत्ता ने उसे हमेशा अपने लिए उपयोगी पाया इसलिए उसके मूल चरित्र में कभी किसी तरह का बदलाव नहीं किया गया बल्कि उसकी संरक्षक बनी रही। यूँ कहने को वह मूल रूप से संविधान के प्रति उत्तरदायी हुआ करती है, सरकार सहित बाकी तमाम संवैधानिक संस्थाओं की तरह, लेकिन असल में उसकी प्रतिबद्धता सिर्फ और सिर्फ राजनैतिक सत्ता से हुआ करती है। राजनैतिक सत्ताएँ बदलती रहती हैं, लेकिन ब्यूरोक्रेसी अपने मूल चरित्र के साथ बनी रहती है। अपनी अभिजात्य किस्म की धूर्तता को सहेजे हुए! यह उपन्यास इसी धूर्तता को उभारता है, जिसमें नकली विनम्रता और सतर्कता का रसायन भी घुला होता है। कई बार वह ब्लैक होल का काम कर रही होती है जो हर चीज को निगल जाती है। कार्तिक जैसे युवा और उनकी टीम के सपनों को भी और अपने खिलाफ लड़ने की कोई वैधानिक गुंजाइश नहीं छोड़ती।

कार्तिक ने अपनी टीम के साथ मिलकर ग्रामीण और कस्बाई युवाओं के लिए स्वरोजगार और उसके जरूरी प्रशिक्षण का जो सफल और बहुउद्देशीय मॉडल विकसित किया था, केन्द्रीय ज्वाइंट सेक्रेटरी राजशेखर उसे ही चालाकी से हथियाकर त्यागी जैसे बिचौलिए को साथ ले, विश्वबैंक की मंजूरी और मदद से बिना जरूरी तैयारी के केन्द्रीय आई.टी. विभाग द्वारा एक लाख 'ग्रामीण सुविधा केन्द्र' के नाम से राष्ट्रीय योजना के रूप में लागू करवा देता है, बिना कार्तिक और उसकी टीम की राय-सलाह लिये और उन्हें शामिल किये। उन्हें किसी तरह का श्रेय भी नहीं दिया जाता। भुगतान करने का तो खैर सवाल ही नहीं उठता! हालाँकि बीच-बीच में अपनी योजना में उनका इस्तेमाल भी किया जाता रहता है। कार्तिक इस छल से आहत है, लेकिन उसका एक मित्र अवस्थी इसमें कुछ भी नया या अजीब नहीं पाता। उसे हर पी.पी.पी. मॉडल में ऐसा होना स्वाभाविक लगता है, जिसमें इस मॉडल के तहत शुरू की जाने वाली हर योजना को सफल होता देख तन्त्र हथियाकर उसे सरकारी योजना में बदल देता है। राष्ट्रीय साक्षरता अभियान में अवस्थी का व्यक्तिगत तौर पर ऐसा ही अनुभव रहा है। जिसमें जो बीच वाला 'पी' (निजी हिस्सेदार) था उसे हाशिये पर कर अभियान को सरकारी योजना में बदल दिया गया। विश्व बैंक से करोड़ों की सहायता प्राप्त कर इससे जैसे लाभ कमाये जाने थे, कमा लिये गये। योजना कागजों पर सफल घोषित करवा ली गयी। योजना

से जुड़े शीर्ष केन्द्रीय अधिकारी बाहर से सम्मान-पुरस्कार ले आयी और शासन ने योजना की सफलता को एक तमगे की तरह टाँग लिया। शासन और तन्त्र की आपसी घोषित-अघोषित सहमतियों से ऐसा अक्सर होता आया है। जनतन्त्र में ब्यूरोक्रेसी वह ब्लैक होल है जो इस तरह के कई महत्त्वाकांक्षी जनहितैषी अभियानों-योजनाओं को निगल जाती है। उनसे जुड़े फायदों सहित! इसमें सार्वजनिक नुकसान तो होता ही है। साथ ही कार्तिक जैसे युवा उत्साही बुरी तरह ठगे भी जाते हैं, जिनके पास अपने कुछ मौलिक सपने होते हैं। उन सपनों के जरिए वे सार्वजनिक जीवन में छोटा-मोटा योगदान करना चाहते हैं। उनके विश्वासों को धक्का तो खैर पहुँचता ही है। उपन्यास इस हताशा और स्वप्नभंग के नोट पर खत्म नहीं होता, बल्कि इस उम्मीद और भरोसे के लिए जगह बनाता है कि ऐसे हादसों के बावजूद कार्तिक जैसे कुछ युवा टूटकर बिखर नहीं जाते, बल्कि उनके पास और जो नये सपने होते हैं, उनकी तलाश में चल पड़ते हैं। उपन्यास का यह एक आशावादी पाठ है। हालाँकि दूसरा निराशावादी पाठ भी हो सकता है जो कार्तिक को एक अपवाद मानता हो और अधिकांश युवाओं में इस तरह की सम्भावना नहीं देख पाता हो। खैर!

सन्तोष चौबे इस उपन्यास में कोई आम-सी कथा नहीं कहते, बल्कि उपन्यास को एक भिन्न कथाक्षेत्र में ले जाते हैं। उदारीकरण और वैश्वीकरण के इन तीन दशकों बाद देश में रोटी-रोजगार का जो परिदृश्य दिखाई दे रहा है, उपन्यास का सन्दर्भ बिन्दु वही है। प्रश्न रोजगार का है और कथा की जमीन भी वही है। वैसे, समाजार्थिकी से जुड़े कुछ लोग आज के समय को समर्थों का समय भी कहते हैं, बल्कि समर्थतमों का समय! डार्विन की स्थापना के अनुसार सर्वोत्तम की उत्तरजीविता का समय! जो सर्वोत्तम या समर्थतम हैं, वे ही बचेंगे; बाकी खत्म हो जाएँगे। उपन्यास इसके बरक्स इनकी नहीं बल्कि उन औसत युवाओं की बात करता है जो अपनी आँखों की नाप के सपने (राही मासूम रजा) देखते हैं। कार्तिक खुद भी ऐसे ही सपनों को सफल और साकार करने में मददगार होने का सपना देखता है। उल्लेखनीय है कि औद्योगीकरण और उदारीकरण के चलते ग्रामीण क्षेत्रों के बहुत सारे पारम्परिक रोजगार खत्म हुए हैं। हालाँकि बीच में कृषि-आधारित ग्रामीण रोजगारों की भी बात शुरू हुई थी। पता नहीं उनका क्या हुआ। इधर कुछ नए रोजगारों के अवसर भी पैदा हुए हैं। इन्हें ही स्वरोजगार की तरह शुरू करने के लिए ग्रामीण और कस्बाई युवाओं को प्रेरित-प्रोत्साहित करने की सरकारी तौर पर कोशिशें की जा रही हैं। कुछ स्वयंसेवी संस्थाएँ भी इस क्षेत्र में काम कर रही हैं।

इस उपन्यास का नायक भी इस मामले में प्रशिक्षण आदि का अपना मॉडल विकसित करता है, जो सफल भी है, शासन को उपयोगी भी लगता है। ब्यूरोक्रेसी की मदद से वह मॉडल शासन द्वारा हथिया लिया जाता है। कुल मिलाकर यह एक अलग तरह का आर्थिक परिदृश्य है। उपन्यास की कथा इसी जमीन पर घटित होती है जो कि नयी भी है। वह प्रासंगिक रूप से नक्सल प्रभावित इलाकों में जारी जंगल, जमीन और उनसे स्थानीय निवासी के रिश्ते की बहस की बात करता है, साथ ही 'सलवा जुडूम' की भी!

मोटे तौर पर उपन्यास में दो चीजें केन्द्र में हैं– निजी या सामूहिक स्तर पर स्वप्नदर्शी युवाओं द्वारा किए जाने वाले रचनात्मक प्रयास और दो, इन सपनों-प्रयासों का प्रशासन-तन्त्र द्वारा कर लिया जाने वाला अपहरण, किसी ब्लैक होल की तरह। उपन्यास में ये दोनों बातें सन्तुलित ढंग से उभरकर आ पायी हैं। जब कि कभी-कभी नयी तरह की वैचारिक जमीन पर खड़ी रचना के साथ यह होता मिलता है कि उसमें बाकी चीजें तो आ जाती हैं, लेकिन कथा का मूल स्वर या तो कहीं छूट जाता है या फिर कथा के विभिन्न पक्षों के बीच जरूरी सन्तुलन नहीं आ पाता, लेकिन यह उपन्यास इस बात को पूरी ताकत के साथ कह पाता है कि सरकारी तन्त्र के ऐसे छलों और धूर्तताओं के बावजूद कुछ लोग पस्त होकर बैठ नहीं जाते, बल्कि अपनी कोशिशें जारी रखते हैं।

उपन्यास पूर्वार्द्ध में थोड़ा धीमा चला है। खासकर माण्डू और धार के इतिहास के लम्बे परिचय-प्रसंग में। यह प्रसंग अगर न भी होता तो भी मूल कथा में कोई फर्क नहीं पड़ता। वैसे भी उपन्यास की मूल कथा को यह प्रसंग अलग से कोई विशेष मदद नहीं करता, बल्कि कथा की बुनियादी कसावट को थोड़ा ढीला भी करता है। रही बात माण्डू-शिविर की तो वहाँ सब शुभ-शुभ, भला-भला-सा और सुन्दर-सुखद सपने जैसा है, जिसमें आत्मविश्वास और रचनात्मक उत्साह लगभग अपने चरम पर हैं। शिविर की कार्यशैली भी वैसी ही है जैसी आजकल के ज्यादातर भद्र किस्म के एन.जी.ओ. की हुआ करती है। अनौपचारिक, लोकतान्त्रिक और खुली-खुली! जिनमें सरकारी कार्यशालाओं वाली जड़ता और ऊब नहीं होती। कार्तिक की टीम की इसी माण्डू कार्यशाला में राजशेखर जैसे ब्यूरोक्रेट का कार्तिक के मॉडल और कार्यपद्धति से अभिभूत होना सामने आता है। उसकी निर्लज्ज धूर्तता तो उपन्यास के उत्तरार्द्ध में सामने आती है। तब पाठक को ऐसे अधिकारी याद आ सकते हैं जिनका जीवन और कर्म अपने-आप में मिसाल रहा है, लेकिन राजशेखर अपवाद स्वरूप पाये जाने वाले संविधान और आमजन के प्रति उत्तरदायी ऐसा

अधिकारी नहीं है। होना भी नहीं चाहता। वह बाहर से दिखाई देने वाली अपनी सारी सदाशयता, विनम्रता के बावजूद त्यागी जैसे दलाल की मदद से सत्ता के सही–गलत हित साधने वाला एक चालाक ब्यूरोक्रेट ही है और इसी काम के लिए प्रशिक्षित भी है। उसके व्यक्तित्व का यह पक्ष उपन्यास के उत्तरार्द्ध में धीरे–धीरे खुलता है और अन्त तक आकर पूरी तरह उजागर हो जाता है। एक लगभग ग्रे शेड वाले आभिजात्य वर्गीय खल पात्र को प्रामाणिक एवं विश्वसनीय ढंग से खड़ा कर पाना कई बार आसान नहीं हो पाता। इस उपन्यास में यह हो पाया है, यह विशेष बात है। कार्तिक उसके सामने काफी निरीह नजर आता है। कार्तिक के पास सिर्फ नए–नए रचनात्मक सपने देखने और अपने जैसे युवाओं को जोड़ने की ताकत है और आदर्शों की भी। वह वैश्वीकृत अतिव्यवहारिकता से ग्रस्त समय–समाज का नये ढंग का आदर्शवादी और स्वप्नदर्शी है। खुली आँखों से सपने देखने वाला! जो सारे छलों के बीच अपनी स्वप्नजीविता को लेकर आश्वस्त है। इसी आश्वस्ति से वह शक्ति अर्जित करता है। 'क्या पता कामरेड मोहन' में भी इस तरह के संघर्षशील पात्र हैं, लेकिन थोड़े अलग प्रकार के! गहरे अन्तर्द्वन्द्व और तनाव में फँसे। वहाँ उनका मुकाबला एक तरह के सांगठनिक तन्त्र से है। खास बात यह कि उपन्यास के कथात्मक ढाँचे में यह सब ठीक तरह से व्यक्त हो पाया था। 'सपनों की दुनिया के ब्लैक होल' का कथात्मक ढाँचा थोड़ा छोटा है और अलग भी। यहाँ प्रशासनिक–तन्त्र का ब्लैक होल है जो आम आदमी की बेहतरी के लिए देखे जाने वाले सपनों को निगल लेते हैं और अपने हितों के अनुकूल उनका इस्तेमाल करते हैं। लेकिन उपन्यास इस हताशा पर नहीं समाप्त होता बल्कि इस सकारात्मक सोच पर होता है कि ब्लैक होल इस विराट शक्ति के बरक्स सार्वजनिक जीवन में, आम आदमी की बेहतरी के लिए, काम करने वाले लोग अपनी पराजयों के बावजूद रुकने वाले नहीं, बल्कि नए सपनों के साथ आगे बढ़ जाने वाले होते हैं। ऐसे युवा ही आगे की उम्मीदें हैं।

रचाव के लिहाज से उपन्यास चूँकि नाट्यकर्मी अभिषेक द्वारा सुनायी गयी कथा है, इसलिए उसमें एक स्वाभाविक किस्म की दृश्यात्मकता तो है ही। इसके अलावा कथा–नायक कार्तिक के टेक्नॉलॉजी के क्षेत्र का होने से कथा–भाषा में इस क्षेत्र की भाषिक संरचना भी मौजूद है। कुल मिलाकर एक खास तरह की चुस्त भाषा में लिखा गया, आज के युवाओं के अनुभवों की बात करने वाला उपन्यास! ❑

ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन वाया सामाजिक उद्यमिता अर्थात् नौ बिन्दुओं के खेल से आगे

(सपनों की दुनिया में ब्लैक होल)

शंभु गुप्त

कथाकार संतोष चौबे का चौथा उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' आकार और विस्तार में जितना अनतिदीर्घ है, उसकी कथावस्तु और उसमें निहित और उससे विकीरित लेखकीय अन्तर्दृष्टि और मन्तव्य उतना ही व्यापक और विस्तृत है। एक सुर्रियल वास्तविकता के बीज-सूत्र से शुरू हुआ यह उपन्यास विकसित होते-होते एक विश्वव्यापी समकालीन यथार्थ के वट-वृक्ष का रूप लेता नजर आने लगता है, जिसके अन्तर्गत भारत जैसे पिछली तीसरी दुनिया के गरीब-पिछड़े देश– जो दुनिया की साम्राज्यवादी शक्तियों के उपनिवेश रहे और जहाँ की स्थानीय सरकारें अभी भी उपनिवेशवादियों जैसा जन-द्रोही आचरण करती दिखाई देती हैं, जैसा कि उपन्यास के अन्तिम चरण के विवरणों में यह उल्लेख आता है कि किस प्रकार सरकार और उसका अमला न केवल यह कि अपने वादे के मुताबिक ग्रामीण सूचना तकनीक केन्द्रों को कोई मूलभूत सुविधा जैसे कि बिजली और कनेक्टिविटी तथा ऑनलाइन सेवाएँ उपलब्ध नहीं कराती, बल्कि इसके साथ ही, टेंडर/एग्रीमेंट के एक क्लॉज का हवाला देते हुए उन पर भारी पेनल्टी भी लगा देती है! कहाँ तो इन केन्द्रों की जिन्हें इन छोटे, लेकिन बुलन्द हौसले वाले ग्रामीण उद्यमियों ने अपनी उत्कट मेहनत और लगन से खड़ा किया था और लाभ की स्थिति में लाते जा रहे थे, अपनी सेवाओं के लिए सरकार से अपने पेमेंट की बारी थी और कहाँ सरकार उलटे इन्हीं पर पेनल्टी के पेमेंट का बोझ लाद देती है! एक तरह से यह इन्हें बुरी तरह हतोत्साहित करने और इनकी कमर तोड़ देने की साजिश थी, जो पूरे सुनियोजित तरीके से अंजाम दी गई। सरकार अपने वादे को पूरा करने से जो कतराती चलती है तो वस्तुतः उसकी यह

वादाखिलाफी कोई आकस्मिक रूप से पैदा हुई परिस्थिति नहीं थी, बल्कि यह उसकी एक व्यवस्थित स्ट्रेटेजी के तहत था! स्ट्रेटेजी यह कि कार्तिक के मॉडल पर विकसित ग्रामीण सूचना तकनीक केन्द्रों को हथियाकर अपने नियन्त्रण में लाया जाए और फिर एक वर्ल्ड बैंक की फंडेड परियोजना की तरह पद और पैसे की लूट का खेल शुरू हो! सरकार के एक मन्त्री तथा उनके करीबी आई.ए.एस. अफसर इस पूरे उलटफेर को अंजाम देते हैं। सरकार तथा उससे जुड़े अधिकारियों को जनहितैषी और जनपक्षधर विचार और कार्यविधि पर अमल करना चाहिए, जनता के मनोबल को मजबूत बनाए रखने की दिशा में अग्रसर होते रहना चाहिए, किन्तु असल वास्तविकता यह है कि ऐसा वे लगभग नगण्य रूप में ही करते हैं। अधिकांशत: उनके विचार और कार्य लगभग जनद्रोही ही साबित होते हैं। इस उपन्यास में जन-उद्यमिता का सन्दर्भ है, लेकिन सन्दर्भ चाहे जो हो, सरकार/सत्ता और उसके कारकुनों का आचरण हर जगह लगभग यही– जनद्रोही/जनविरोधी– होता देखा जाता है। उपन्यास में कार्तिक के अभिन्न मित्र अवस्थी के प्रौढ़-शिक्षा की परियोजना के उदाहरण द्वारा पर्याप्त विशदता के साथ इसे लेखक पाठकों को समझाता चलता है। अवस्थी एक बहुत ही दूरदर्शी और अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न शख्सियत है, जो ग्रामीण सूचना तकनीक केन्द्रों से जुड़ी इस सरकारी साजिश से कार्तिक को अवगत कराता है। हालाँकि स्वयं कार्तिक भी धीरे-धीरे अपने अनुभव से यही महसूस करने लगता है। कार्तिक एक आदर्श व भावना-प्रवण चरित्र की तरह दरपेश होता है। उसे सिद्धान्तत: यह मंजूर नहीं है और यह उसके सोच के दायरे के बाहर की बात है कि कोई जनतान्त्रिक सरकार– जो कि जनता के वोट द्वारा चुनी गई है– इस तरह जनविमुख, जनविरोधी और जनद्रोही आखिर कैसे हो सकती है! उसे तो जनता के लिए ही पूरी तरह समर्पित होना और रहना चाहिए। एक जनतान्त्रिक सरकार में कार्तिक की बहुत ही गहरी आस्था और विश्वास है और सम्भवत: अपने इसी आस्था-विश्वास के तहत ग्रामीण सूचना तकनीक केन्द्रों के विकास सम्बन्धी राजशेखर और डॉ. त्यागी जैसे चालाक अफसरों के दौरों/बैठकों/प्रेजेंटेशन इत्यादि कार्यक्रमों में वह अपनी उत्साहजनक सहभागिता और सम्मतियाँ देता चला आता है, लेकिन जिस क्षण उसे यह अहसास होता है कि सरकार और उसके ये दोनों बिचौलिए उसके और उसकी टीम के साथ दोगला व्यवहार कर रहे हैं, उसका दिल टूटने लगता है, वह अनेकानेक दु:स्वप्नों की गिरफ्त में आता चलता है और एक तरह का अवसाद-सा उसे घेरने लगता है, हालाँकि इस मामले में वह पूरी तरह एक सामूहिकतावादी सामाजिक संवादशील व्यक्ति है, वह हर समस्या पर अपने

साथियों के साथ संवाद करता है और उसका कोई सर्वमान्य हल ईजाद करता है, जैसा कि लेखक एक स्थान पर उसके विषय में लिखता है– ''सुबह मैं उठा तो एक निश्चय मेरे मन में आकार ले चुका था। मैंने तय किया मैं अपने सभी प्रमुख सहयोगियों से इस नए सपने के बारे में बात करूँगा।'' (सपनों की दुनिया में ब्लैक होल, आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल, प्रथम संस्करण 2022, पृष्ठ-131)। कार्तिक, जैसा कि आगे भी हम देखेंगे, एक रचनात्मक और सकारात्मक सोच वाला व्यक्ति रहा है। अवसाद यदि उसे घेरता भी है तो बहुत जल्दी ही उस पर वह कमांड भी कर लेता है। उसके व्यक्तित्व पर लेखक की यह टीप ध्यान देने योग्य है– ''...वह लम्बे समय तक अवसाद में रहने वाला व्यक्ति नहीं था। वह पॉजिटिव एक्शन द्वारा अवसाद से बाहर निकल आता। वह फिर कोई नया काम शुरू करता था और काम के आनन्द में डूब जाता था। इस तरह वह एक रचनात्मक वातावरण अपने आसपास बनाए रखता था।'' (वही, पृष्ठ-82)।

अपने यहाँ की जनतान्त्रिक राज्य-व्यवस्था के प्रति कार्तिक के मन में पूरा सम्मान है। अपने इसी संस्कार के तहत वह सरकार के साथ सहयोग करता है, लेकिन यही सरकार जब अपने विहित संवैधानिक दायित्व और कर्त्तव्य से विमुख होकर कुछ आत्मनिष्ठ राजनीतिज्ञों व ब्यूरोक्रेसी की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं और निहित स्वार्थों के वशीभूत काले को सफेद और सफेद को काला करने पर उतारू हो जाती है तो उसका गुस्सा भी फूट पड़ता है। उसे यह कतई बर्दाश्त नहीं कि सरकार स्वैराचार पर उतर आए और आम लोग बिना किसी कसूर के कसूरवार ठहरा दिए जाएँ। सरकार का यह दायित्व होता है कि जनता के मसलहों के प्रति वह जवाबदेह हो, लेकिन देखा यह जा रहा है कि कुछ समय से सरकार की आदत ही हो गई है कि जनता को उसके अपने हाल पर छोड़ दिया जाए! वह मरे चाहे जिए! जैसा कि एक स्थान पर उपन्यास में कहा गया है कि– ''गवर्नमेंट ने अब ये नियम ही बना लिया था कि वह कोई भी पेमेंट सीधे तरीके से नहीं करती थी। हर बात के लिए कोर्ट जाना पड़ता था।'' (वही, पृष्ठ-125) और कोर्ट जाने का क्या अर्थ है, कौन नहीं जानता- ''अधिकतर सर्विस प्रोवाइडर पेनल्टी से बचने तथा सरकार से पेमेंट प्राप्त करने के लिए कोर्ट चले गए थे जो अन्ततः समय तथा पैसे की बरबादी ही था।'' (वही, पृष्ठ-128)।

कार्तिक का गुस्सा और विरोध इस देश के एक उस सृजनशील, स्वायत्त और आत्मविश्वास से भरे उद्यमी और उत्पादक-वर्ग का गुस्सा और विरोध है, जो अपनी नवनवोन्मेषी रचनात्मकता, तर्कशील विवेक, उपयोगितावादी जीवन-दृष्टि और

अकूत श्रमशीलता के चलते उद्यम की दुनिया में नवाचार पैदा करने की अकूत क्षमता रखता है। यह उपन्यास बहुत शिद्दत से यह स्थापित करता है कि उद्यम की दुनिया में नवोन्मेष, स्थाई विकास की पहल सरकार और सरकारी अमला कतई नहीं करता, ऐसा वह कर ही नहीं सकता! उद्यम की दुनिया में नवोन्मेष, पहल और स्थायित्व की स्थितियाँ मात्र श्रमशील उद्यमियों और उत्पादक-वर्ग के हाथों ही उत्पन्न होती हैं। सरकार और उसका अमला तो अपनी सर्वग्रासी प्रवृत्ति के चलते उसमें सिर्फ रोड़े अटकाता है, उसे हतोत्साहित करता है। सरकार का यह रवैया असहनीय है। लेखक उपन्यास में कार्तिक के मार्फत जैसे अपना ही आक्रोश यहाँ व्यक्त करता है। कार्तिक के मॉडल को हाइजेक कर उद्यमियों के आन्दोलन को एक परियोजना में तब्दील कर देने वाली सरकार की यह निहित स्वार्थी सर्वग्रासी प्रवृत्ति कथानायक के इस आक्रोश का आधार है। कथानायक का यह आक्रोश एक तरफ उत्पादक-वर्ग के स्वाभिमान और आत्मविश्वास का द्योतक है तो दूसरी तरफ सरकार की जनद्रोही नीतियों और प्रवृत्ति के प्रति प्रतिरोध का। उपन्यास में एक स्थान पर लेखक सरकार के तामझाम और कार्यशैली की खबर लेता हुआ एक टीप देता है– ''वे मन्त्रालय की अपनी भव्य बिल्डिंग में, एक बहुत ही विशाल कमरे के कोने में बैठे थे। जनतान्त्रिकता के तमाम दावों के बावजूद हमारे मन्त्रालय अभी भी आम आदमी के मन में भय पैदा करते थे और सचिवों के विशाल कार्यालय एक दूरी का एहसास कराते थे।'' (वही, पृष्ठ-122)। सरकार का यह तामझाम और शान-ओ-शौकत उसकी जनविमुखता की स्थाई प्रवृत्ति का सांकेतिक प्रमाण प्रस्तुत करती है। सरकार की ऐसी जनविमुखता की स्थिति में ही ऐसा होता है कि श्रमशील और उद्यमी आम लोगों की स्थिति ऐसी दयनीय हो जाती है– ''तो हालत अब यहाँ तक आ गई थी। उन सभी स्वाभिमानी और रचनात्मक उद्यमियों को पी. पी. पी. ने याचक बना दिया था। कई लोग न्यायालय में गुहार लगा रहे थे, कुछ लोगों ने मन्त्री तक दौड़ लगाई थी।'' (वही, पृष्ठ-123)।

लेखक इस उपन्यास में समकालीन सत्ता के चरित्र का बहुविध खुलासा करता है। श्रमशील उद्यमियों को याचक जैसी असुरक्षित स्थिति में पहुँचा देना न केवल जनविरोधी बल्कि एक प्रकार से राष्ट्र-विरोधी ही कार्य है। अपने उद्यमियों को इस स्थिति में पहुँचा देने का परिणाम क्या होता है, इसकी कल्पना की जा सकती है! इन उद्यमियों को याचक बना देने का अर्थ है, अपने देश की उद्यमिता को याचक बना देना, उसे हतोत्साहित कर नेस्तनाबूद करने की कोशिश करना! और अपने देश की उद्यम-शक्ति को नेस्तनाबूद करने का क्या अर्थ हो सकता है? क्या यह खुद

अपने देश को नेस्तनाबूद करने का उपक्रम नहीं है? और अपने देश को नेस्तनाबूद करना! उफ्फ! लेखक सीधे-सीधे यह सब नहीं कहता, सीधे-सीधे कहे जाने का कोई अर्थ भी नहीं है, क्योंकि औपचारिक रूप से ऑन रिकॉर्ड वे पूरे चाक-चौबन्द हैं, अभिधात्मक भाषा में वे भारी प्रवीण हैं, वहाँ उन्हें नहीं पकड़ा जा सकता। वे तो व्यंजना में, अनौपचारिकता में और गुप्त बैठकों में ही यत्किंच निरावृत देखे जा सकते हैं। हालाँकि यही इनका असल वास्तविक स्वरूप है। उपन्यास में लेखक कार्तिक के जिस अभिन्न और दुविधा के साथी अवस्थी का चरित्र खड़ा करता है, वह इन्हें इनके इस असल रूप में पहचानने के लिए ही लाया गया प्रतीत होता है। अवस्थी, जिन्होंने साक्षरता आन्दोलन में काम किया हुआ है, सरकार की इस फितरत से अच्छी तरह वाकिफ हैं कि वह किस तरह कथित पीपीपी के मार्फत एक अच्छे-खासे जन-अभियान को एक परियोजना में तब्दील कर तबाह कर देती है। पीपीपी यानी कि पब्लिक-प्राइवेट-पार्टनरशिप इधर ईजाद किया गया एक सरकारी बानक है, जो ऊपर से देखने में बड़ा ही आदर्श और मानक प्रतीत होता है, लेकिन गूलर के फल की तरह इसमें अन्दर कीड़े ही कीड़े भरे पाए जाते हैं। पीपीपी की शुरुआत तो उम्दा होती है, लेकिन धीरे-धीरे जब जनता अपने सृजनात्मक श्रम और लगन से इसे एक ऊँचाई पर पहुँचा देती है और उसे चौतरफा ख्याति मिलने लगती है, तो अचानक सरकार का कोई महत्वाकांक्षी हिस्सा आगे बढ़कर अपनी लपलपाती नजर उस पर डालता है और उसे पटरी से उतार देता है। जनता जिसे एक आन्दोलन की तरह आगे बढ़ाती है, सरकार उसे एक वर्ल्ड बैंक फंडेड परियोजना में बदल देती है।

जैसा कि स्पष्ट है, यह उपन्यास सरकार की उस कथित पीपीपी स्कीम की अंदरूनी तह तक जाकर उसकी असल वास्तविकता को उजागर करता है। उपन्यास बताता है कि किस तरह खुद सरकार इस स्कीम की जड़ों में मट्ठा डालने का काम करती है। पीपीपी दरअसल सरकार में बैठे कुछ लोगों का चरागाह बनता चला जाता है। पीपीपी एक शानदार मॉडल बन सकता था, बशर्ते कि सरकार अपने आचरण में ईमानदार रहे। उपन्यास में अवस्थी राई-रत्ती इसकी कलई खोलता है। अपने साक्षरता अभियान के अनुभवों के आधार पर किया गया उनका यह आकलन पर्याप्त विश्वसनीय है। उपन्यासकार इस मामले में समकालीन यथार्थ के एक बहुत ही महत्वपूर्ण लेकिन लगभग अछूते पहलू की ओर हमारा ध्यान खींचता है। अवस्थी के मार्फत जैसे वह स्वयं पीपीपी की जमीनी सच्चाई- ग्राउंड-रिपोर्ट- हमारे सामने पेश करता है। लेखक लिखता है- ''...प्रत्येक पीपीपी की एक सायकल होती है।

वह शुरू इसलिए होती है कि प्रत्येक सरकार दो–तीन साल में अपने आपको बाँझ महसूस करने लगती है, जबकि जनता रचनात्मक बनी रहती है। रचनात्मक बने रहना जनता की जरूरत भी है और फितरत भी। फिर कोई रचनात्मक प्रयोग बड़ा हो जाता है। सरकार, जिसकी निगाह हर समय ऐसे प्रयोगों पर रहती है, उसे लपक लेती है। फिर वह उसे और बड़ा करती है, इतना कि वह मूल प्रयोगकर्ता के हाथ से निकल जाए, फिर वह उसे हथिया लेती है। अब उसके नाम से वर्ल्ड बैंक से धन आता है (उन्हें भी अपना धन किसी न किसी को देना ही है), उसका तिया–पाँचा किया जाता है, श्रेय और इंटरनेशनल पोस्टिंग लूटे जाते हैं। उसके बाद फिर पीपीपी के लिए नए आइडिया की तलाश शुरू होती है। पीपीपी की सड़कों में गड्ढे हो जाते हैं प्रोजेक्ट अधूरे छूट जाते हैं और जहाँ उत्साह तथा समृद्धि का संचार होना था, वहाँ निराशा फैल जाती है। पर सरकार को फर्क नहीं पड़ता। वह नए सिरे से नए विचार के साथ पीपीपी शुरू करती है।'' (सपनों की दुनिया में ब्लैक होल, आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल, प्रथम संस्करण 2022, पृष्ठ–131)। उपन्यास में एक स्थान पर त्यागी पीपीपी की पैरवी करते हुए इसे एक 'विन–विन सिचुएशन' का नाम देता है। विन–विन सिचुएशन में प्राय: सभी पक्षों का लाभ होता देखा जाता है, लेकिन यहाँ सरकारी चालबाजियों के चलते यह सारी पीपीपी स्कीम इकतरफा हो आती है। ऐसा नहीं है कि इससे आमतौर पर सरकार को कोई लाभ होता हो या उसके खजाने में कोई बढ़ोतरी होती हो। यहाँ दरअसल लाभ केवल उन लोगों का होता है, जो सरकार की तरफ से इस परियोजना का संचालन कर रहे होते हैं। इन लोगों की चालबाजियाँ, मक्कारियाँ आम जनता और सरकार के बीच के सारे सन्तुलन को गड़बड़ा देती हैं। जैसे कि अवस्थी साक्षरता अभियान सम्बन्धी पीपीपी परियोजना के बाबत खुलासा करते हैं कि कैसे सरकार में बैठे राजनीतिक लोग अपने तात्कालिक लाभ के लिए इस तरह की योजनाओं का इस्तेमाल करते हैं, उन्हें इससे लाभ तो बाद में होता है, पहले परियोजना की वस्तुगत दुर्गति होना शुरू हो जाती है– ''जैसा कि होना ही था, भारत सरकार की निगाह उस प्रयोग पर पड़ी और उन्होंने उसे हाइजैक कर लिया। ...सरकार को लगता था कि वह इसके बहाने पूरे देश में अपना प्रभाव बढ़ा सकती है। उस समय केरल में वाम की सरकार थी और तत्कालीन शिक्षा मन्त्री को लगता था कि वे समय आने पर वाम की मदद से प्रधानमन्त्री बन सकते हैं। सो उन्होंने इसे राष्ट्रव्यापी बनाया और वाम को आगे किया। ...जब साक्षरता आन्दोलन को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि मिलने लगी तो पूरे भारत के लिए वर्ल्ड बैंक फंडिंग का

प्रोजेक्ट बनाया गया जो स्वीकृत भी हो गया। करीब एक-दो सालों में पूरी परियोजना सरकार के हाथों में चली गई। हालाँकि पीपीपी के नाम पर उसमें स्वयंसेवी संस्थाओं को जोड़े रखा गया पर उसमें से जनता का स्वतःस्फूर्त उत्साह और रचनात्मकता जाती रही। अब वह एक ऐसा बंजर मैदान थी जिसमें सरकार अपने घोड़े दौड़ा रही थी, वर्ल्ड बैंक द्वारा वित्त पोषित हजारों करोड़ रुपए की परियोजना, जिसमें सरकारी अधिकारी 'सरकारी' ढंग से खेल सकते थे। धीरे-धीरे करके स्वयंसेवी संस्थाओं को भी अलग कर दिया गया और परियोजना पूरी तरह कलेक्टरों के हाथों में चली गई। पहले वह आन्दोलन था, अब वह परियोजना बन गई।'' (वही, पृष्ठ- 109-10 एवं 111-12)। जैसा कि हम देखते हैं, कार्तिक और उसकी टीम द्वारा खड़े किए गए ग्रामीण सूचना तकनीक केन्द्रों के मॉडल के प्रयोग का भी यहाँ यही हश्र होता है। यहाँ भी स्थिति यही है कि ''मन्त्री जी इस सारी परियोजना को राजनैतिक प्रभाव की दृष्टि से देखते थे।'' (वही, पृष्ठ-105)। यहाँ भी सरकार को यही खामखयाली है कि– ''यदि ये सफल हुआ तो सरकार की पहुँच सीधे एक लाख पंचायतों तक हो जाएगी।'' (वही)। इसीलिए कमर कसी जाती है कि हर हाल में यह परियोजना सफल हो– ''देखिए, हमें किसी भी हालत में इस प्रोजेक्ट को सफल बनाना है। ...आप जो भी ठीक समझें करें, पर इसे फेल मत होने दीजिएगा।'' (वही)। हालाँकि फेल आगे चलकर फिर भी यह होता है। लेखक साफ इंगित करता है कि इसके फेल होने के पीछे कोई और नहीं, आई.ए.एस. लॉबी का पैसे और पद का अतिमहत्वाकांक्षी लोभ और लाभ होता है। अपने इस लाभ और लोभ-लालच के निमित्त अपने स्तर पर ही वे अनेकानेक चालबाजियाँ करते देखे जाते हैं। लेखक हमारे यहाँ की औपनिवेशिक मानसिकता में पगी और पली-बढ़ी ब्यूरोक्रेसी के शातिराना रवैए को इस सन्दर्भ में अपने टारगेट पर लेता है। इस उपन्यास में राजशेखर और त्यागी इसके प्रतीक-प्रतिनिधि हैं। राजशेखर के विषय में लेखक लिखता है कि ''राजशेखर को सरकारी हलकों में स्ट्रेटेजिस्ट माना जाता था, जिसे हम चतुर सुजान कहते हैं।'' (वही, पृष्ठ-104)। इनका जोड़ीदार त्यागी भी किसी से कम नहीं है। उसे तो सिर्फ इशारा मिलना चाहिए। लेखक साफतौर पर कहता है कि ये लोग सारा काम चालाकी भरी दुर्भावना के तहत ही करते हैं, यह चालाकी भरी दुर्भावना कम से कम जन-हितैषी तो नहीं ही होती, यह कुल मिलाकर आई.ए.एस. लॉबी का ही हित साधती है। राजनीतिक जनप्रतिनिधियों/मन्त्री इत्यादि को भी ये इसी के तहत हाँकते हैं– ''राजशेखर और त्यागी जी उन्हें नमस्ते करके बाहर निकाल आये। उनके मन अब एक चालाकीपूर्ण

दुर्भावना से जगमग हो रहे थे।'' (वही, पृष्ठ-105)।

इस उपन्यास की एक बहुत बड़ी उल्लेखनीयता यह है कि यह आम जनता की रचनात्मकता और प्रयोगधारित आविष्कारिकता की अद्‌भुत प्रतिभा और क्षमता को बड़ी ही शिद्दत के साथ रेखांकित करता है। ऊपर इसका संकेत किया गया। उपन्यास में इसी के साथ, बल्कि इससे भी ज्यादा उल्लेखनीय इस रचनात्मकता और प्रयोगधारित आविष्कारिकता के उत्पन्न व अर्जित किए जाने की वह प्रक्रिया है, जिसका कथात्मक निरूपण उपन्यास के 5वें अध्याय से लेकर 10वें अध्याय तक पच्चीस से ज्यादा पृष्ठों में सविस्तर किया गया है। खुशियों के शहर मांडू के मालवा रिट्रीट में कार्तिक और उसकी पूरी टीम के ब्रेनस्टॉर्मिंग सेशन तथा फ्रीक आउट सेशन/ब्लैक कॉफी सेशन जैसे सत्रों और प्रकृति, इतिहास, पुरातत्व, भूगोल की जानकारियों से भरे भ्रमण और रिक्रिएशन/मनोरंजन पूर्ण कार्यक्रमों से समर्थित तीन-चार दिन चलने वाले सम्मेलन का जो विवरण यहाँ दिया गया है, वह ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनर्संयोजन की बीज-वस्तु की रूपरेखा के बतौर लिया जा सकता है। यह सम्मेलन और इसका सविस्तृत वर्णन एक नजीर है कि किस तरह अपनी अकूत क्षमताओं, पहलधर्मिता व सतर्क सूझ-बूझ से भरा इस देश का ग्रामीण उद्यमी लगातार अपनी सम्भावनाएँ और वैकल्पिकताएँ तलाशने में लगा रहता है और निरभ्र भाव से अपने टास्क के प्रति समर्पित रहता है। आवश्यकता सिर्फ एक टटके और आत्मीय नेतृत्व और समर्थन की होती है, एक ऐसा नेतृत्व और समर्थन, जो समानता, स्वकीयता, सद्‌भाव और संवेदनशीलता जैसी सहज मानवीय वृत्तियों से भरा हो और आवश्यक रूप से इन्हें अमल में लाता हो। यहाँ कथानायक कार्तिक इसका उदाहरण है। उपन्यास में एक जगह जहाँ हरपाल त्यागी, प्रोजेक्ट को हाईजैक करने और वर्ल्ड बैंक द्वारा फंडेड व उसके कंसल्टेंट के निर्देशन में चलते रहने के बाद, एक ऐसी स्थिति में जबकि देश भर में कार्तिक और उसकी टीम के केन्द्रों के अलावा बाकी के लगभग सारे ही केन्द्र असफल होने की कगार पर पहुँचने लगे, एक बार फिर जब कार्तिक की शरण में आता है और उसकी सफलता का राज जानना चाहता है, तो इस सन्दर्भ में जो तथ्य वहाँ उभरकर सामने आता है, वह अत्यन्त ही आकर्षक और काम्य है। आई.ए.एस. जैसे ब्यूरोक्रेट्स इस संवेदनशीलता को छू नहीं पाते, लिहाजा वे जिन्दगी भर उससे महरूम रहते हैं। छत्तीसगढ़ के घनघोर आदिवासी इलाकों के भ्रमण के दौरान तथा अन्यत्र भी जब त्यागी देखता है कि केन्द्रों से जुड़े सभी लोग कार्तिक के चरण-स्पर्श करते हैं तो उसे यह आश्चर्यजनक लगता है। उसे यह भी अजीब लगता है कि जबकि सेन्टर

चलाने वाले लोग सब उसके फ्रेंचाइजी हैं तो 'फ्रेंचाइजी' के साथ ऐसा अपनापा क्यों? फ्रेंचाइजी के साथ तो जैसा कि रिवाज है, 'गिव एंड टेक' वाला रिलेशन होना चाहिए! यह ब्यूरोक्रेसी का अपना सोचने का तरीका है, जो शुद्ध लेन-देन पद्धति पर चलता है। उसे यह आत्मीयता इसलिए आश्चर्यजनक लगती है कि यह उसके अनुभव के दायरे के बाहर की चीज है। उन्हें दरअसल प्रशिक्षित ही इस तरह किया जाता है कि वे इस तरह की आम जन के प्रति आत्मीयता को निरर्थक और व्यर्थ तथा अपने कथित रुतबे के खिलाफ समझें और इसे अपने पास फटकने न दें! यह आत्मीयता इन्हें आश्चर्यजनक लगे तो लगे, लेकिन वास्तव में आश्चर्य जैसा इसमें कुछ भी नहीं है। यह दरअसल सामाजिक सम्बन्धों की आपसदारी और अपनापे का मामला है, जो मनुष्य की बद्धमूल सामाजिकता की प्रवृत्ति से जुड़ा है। दो मनुष्य जब इस तरह लम्बे समय तक साथ काम करते हैं तो इस तरह के सामाजिक सम्बन्ध स्वत: विकसित होते चलते हैं। फिर स्वयंसेवी संगठनों के उन्नयन और परिणामोन्मुखी विकास के लिए तो यह आत्मीयता संजीवनी जैसी है। वहाँ ज्यादातर मसले इसी से तय होते हैं। सभी पक्ष इस मामले में सकारात्मक रुख अपनाते हैं। त्यागी के पूछने पर कि ये सब लोग तुम्हारे चरण-स्पर्श क्यों करते हैं, कार्तिक जो यह कहता है तो इसमें कुछ भी अनकटोंटा नहीं है कि– ''मैं मना करता हूँ पर ये नहीं मानते। मुझे अपने बड़े भाई या घर के अग्रज की तरह समझते हैं।'' (वही, पृष्ठ-90)। इसी क्रम में आगे वह यह भी कहता है कि अपने केन्द्र-संचालकों के साथ उसका व उसकी टीम के सदस्यों का सम्बन्ध फ्रेंचाइजी-कम्पनी जैसा नहीं है, बल्कि चूँकि यह एक सामाजिक उद्यमिता के अन्तर्गत स्थापित उद्यम-मॉडल है, अत: वहाँ सामाजिक सम्बन्धों का एक भिन्न प्रकार का ताना-बाना विकसित होता चलता है। कार्तिक त्यागी को कहता है– ''असल में अगर हम टेक्नॉलॉजी को समाज से विच्छिन्न कोई चीज मानते हैं तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता, लेकिन अगर हम समाज को साथ लेकर चलें तो वह उसे गहराई से अपनाता है। इसके लिए आपको सामाजिक परम्पराओं के साथ-साथ चलना होगा। मैं इनके सुख-दु:ख का साथी हूँ। तो ये भी मेरे साथ खड़े रहते हैं।'' (वही)।

संतोष चौबे का यह उपन्यास अपनी कथावस्तु एवं शिल्प में हिन्दी के आम उपन्यासों की अपेक्षा थोड़ा लीक से हटकर है। इसकी कथावस्तु/विषयवस्तु पर गौर किया जाए तो थोड़ा-सा ही गहराई में जाने पर अहसास होगा कि लेखक यहाँ एक विशिष्ट समकालीन यथार्थ और परिदृश्य का खाका खींचने की कोशिश में लगा

है, जिसमें काफी हद तक वह सफल भी होता है, लेकिन इस यथार्थ-निरूपण पर विचार से पहले यह देखा जाना जरूरी है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि लेखक किसी विशिष्ट कथावस्तु/विषयवस्तु-क्षेत्र की ओर हमें ले जाना चाहता है, जो फिलहाल लेखन की दुनिया में लगभग अछूता है और नई रचनात्मक सम्भावनाओं से लबरेज है। यह कोई सामान्य दृश्यमान यथार्थ नहीं है, बल्कि एक विशेषज्ञतापूर्ण विज्ञ सम्भावनाशील यथार्थ है। दरअसल कहना यह चाहिए कि यह एक ऐसा विशेषज्ञतापूर्ण विज्ञ सम्भावनाशील यथार्थ है, जिसमें अन्तर्धारा की तरह सामान्य दृश्यमान यथार्थ भी अनुस्यूत है। यथार्थ-निरूपण की यह एक भिन्न प्रविधि और प्रवृत्ति है, जहाँ एक यथार्थ को भेदकर या उलाँघकर या उसका अतिक्रमण कर दूसरा सम्भावनाशील यथार्थ पाठक के समक्ष प्रस्तुत होता है। विचार या विचारधारा का प्रश्न हालाँकि यहाँ भी है, जो प्राथमिक नहीं तो गौण भी नहीं है। मेरा अनुमान है कि विचार या विचारधारा से पहले लेखक की निगाह में यहाँ जीवन है, लेकिन जीवन की जो प्रस्तावना लेखक ने यहाँ दी है, वह खुद एक निगूढ़ वैचारिकी और अन्तर्दृष्टि की मौजूदगी का सबूत देती है। यह एक तथ्य है कि विषयवस्तु का क्षेत्र व सन्दर्भ चाहे जो हो, लेखक द्वारा अपनी रचना में कथावस्तु का जो संयोजन और प्राक्कलन निबद्ध किया जाता है, वह उसकी विचारधारा और जीवन-दृष्टि को व्यंजित और संकेतित करता ही है। जैसे कि यदि इसी उपन्यास को लिया जाए, तो उपन्यास के प्रारम्भ में ही लेखक अपना कथावस्तुगत प्राक्कलन इस तरह प्रस्तुत करता है– "तो यह जो कहानी मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ, ये शायद यह बता सके कि कार्तिक अब क्या कर रहा है? इस बार जब मैं विदेश से लौटकर उससे मिला तो उसने बताया कि एक सपना है जो उसे बहुत परेशान कर रहा है। मेरी कोशिश है कि मैं उसकी परेशानी आपसे शेयर करूँ, उसे समझने की कोशिश करूँ, मेरी इस कोशिश से जो कहानी बनती है, वह नौ बिन्दुओं के खेल से आगे की कथा है।" (वही, पृष्ठ-16)।

यह जो नौ बिन्दुओं के खेल से आगे का मसला है, वही दरअसल इस उपन्यास की लेखकीय प्रस्तावना और प्राक्कलन है। उपन्यास में लेखक ने इन नौ बिन्दुओं से आगे एक दसवाँ बिन्दु प्राक्कलित किया है, जो– "मेहनत, ईमानदारी और उद्यम" जैसे शब्दों से लबरेज है। जिन्दगी में बेईमानी, कपट, धोखाधड़ी, धूर्तता आदि की कोई जरूरत नहीं है, जिन्दगी मेहनत, ईमानदारी, उद्यमशीलता, सहजता, सहज मानवीय संवेदनशीलता से भी खूब अच्छी तरह चल सकती है!

यह एक मजबूत और प्रकृष्ट सम्भावनाशील यथार्थ है, जिसकी बात ऊपर हमने

की है और जिसे यह उपन्यास अपना लक्ष्य बनाकर चला है। इस दसवें बिन्दु से पहले नौ बिन्दु हैं, जो एक तरह से मौजूदा उस यथार्थ के प्रवाचक हैं। दुनिया में इन नौ बिन्दुओं का ही खेल इस समय चल रहा है, जो यहाँ से लेकर समुन्दर पार तक सर्वत्र जारी है। नौ बिन्दुओं के इस खेल में सारी दुनिया उलझी हुई है या यों कहें कि सारी दुनिया को इस खेल ने उलझा रखा है। यहाँ साफ दो धड़े हैं, एक वह जो इन नौ बिन्दुओं का सूत्रधार और संचालक है और दूसरा वह, जो इनका शिकार है और जिसकी जान पर बन आई है! कोई भी, दुनिया के वर्ग-विभाजन की जिसे थोड़ी भी समझ होगी, यह आसानी से पहचान लेगा कि ये दोनों धड़े कौन-कौन हैं और इनके बीच कैसे ताल्लुकात हैं। इन दोनों के बीच के ये ताल्लुकात कोई बराबरी और सह-अस्तित्व के ताल्लुकात नहीं हैं, बल्कि शोषक और शोषित के शर्मनाक ताल्लुकात हैं। शोषण का यह प्ररूप अपने अब तक के सारे प्रादर्शों से आगे का और सुपर उत्तर-आधुनिक प्रादर्श है, जो एकदम प्रौद्योगीकृत है और लगभग एक स्वचालित तकनीक अपनाते हुए कुछ इस कदर नामालूम तरीके से चल रहा है कि अब किसी का ध्यान ही इधर नहीं जाता! या तो लोगों ने इधर ध्यान देना ही छोड़ दिया है, या अब यह उनके अभ्यास में आ गया है! लोग शायद अब यह मानने लगे हैं कि यह तो एक स्वाभाविक चक्र है, इसे अब कोई रोक नहीं सकता, इसे अब रोका नहीं जा सकता! यह एक ब्लैक होल का रूप ले चुका है। उपन्यास के प्रारम्भ में एक बीजारोपण की तरह इसका उल्लेख है, जो उपन्यास के अन्तिम चरण में अपने पूरे कलेवर के साथ फल-फूलकर एक मूर्तिमान वैश्विक संकट की तरह नमूदार होता है। बीजारोपण के बतौर नौ बिन्दुओं के खेल के रूप में इसका जो आख्यान उपन्यासकार देता है, वह पूँजीवाद के नए उत्तर-आधुनिक संस्करण, जिसमें एम.एन.सी. नेटवर्क और इनके द्वारा लगातार वन-टू का फोर की तरह बढ़ाया जाता नया व विविध किस्म का उपभोक्तावाद, जिसने लोगों के पैसे को जैसे इकतरफा रूप से खींच लेने की एक नई परम्परा व प्रविधि शुरू की, बेतरह गड़बड़ाता पूँजी का सन्तुलन व बेहिसाब आवारा पूँजी का अलग-अलग जगहों पर एकत्रीकरण और इस सबके परिणामस्वरूप जीवन में व्याप्त होती आपाधापी, लोभ-लालच-लंपटता, अधैर्य, तात्कालिकता, चालाकी, कपट, धोखाधड़ी, हिंसा, और कुल मिलाकर सृजनहीनता और ठसपन/यथास्थितिवाद, आदि-आदि से भरी-पूरी एक नई और लगभग स्वचालित मशीनीकृत शोषण-संस्कृति है, जैसा कि ऊपर भी संकेत किया गया, जिससे कि सारी दुनिया, विशेषत: वह आबादी, जिसे कुछ समय पूर्व तीसरी दुनिया कहा जाता था, लगभग तबाह है और

हर तरफ हाहाकार मचा है! ऐसे में मेहनत, ईमानदारी और उद्यम जैसे शब्द और अवधारणाएँ, जिनका कि जबर्दस्त परोकार हमारा कथानायक कार्तिक है, बोदी और व्यर्थ लगने लगें तो भला क्या आश्चर्य! लेकिन असल तथ्य फिर भी यही है कि यह दुनिया अगर चल रही है, तो इसे आगे बढ़ाने वाला मनुष्य-समुदाय लगभग वही है, जो अभी भी मेहनत, ईमानदारी, उद्यम, निष्कपटता इत्यादि के रास्ते चल रहा है! लेखक, कार्तिक का यह सन्दर्भ लेते हुए कि वही है जिसने नौ बिन्दुओं के खेल से हमारा परिचय कराया है, उपन्यास के दूसरे अध्याय की शुरुआत में ही लिखता है– ''एक ऐसा खेल जो भारत-सहित पूरी दुनिया में खेला जा रहा था, जिसने उद्योगपतियों को धनी और बैंकों को कंगाल बना दिया था, जिनमें जनता का पैसा एक सकिंग मशीन की तरह खींचा तो जा रहा था पर वहाँ से लौटने की कोई गारंटी नहीं थी और कभी-कभी तो वह रूप बदलकर भव्य इमारतों की शक्ल में, इधर-उधर टहलती आवारा पूँजी के रूप में या तहखानों तथा बैंक लॉकरों में काले दानव के रूप में छुपा पाया जाता था? कार्तिक द्वारा सुझाए दसवें बिन्दु के रूप में मेहनत, ईमानदारी और उद्यम जैसे शब्द पुराने पड़ गए थे। उनकी जगह चालाकी, कपट तथा धोखेबाजी ने ले ली थी।'' (वही, पृष्ठ-15)।

लेकिन, जैसा कि हम जानते हैं कि लेखक भी कोई कच्ची गोटी नहीं खेलता! उसके पास इसका भी एक लाजवाब तोड़ मौजूद है। यह तोड़ वही आगे का सम्भावनाशील यथार्थ है, जिसकी बात लगातार यहाँ की जा रही है। यह उपन्यास अपने प्रस्थान-बिन्दु के बतौर ही अपना यह लक्ष्य रखकर चला है कि इसे इन नौ बिन्दुओं के खेल से आगे की कथा कहनी है, जैसा कि उपन्यास का कथावाचक अभिषेक बैनर्जी स्पष्ट करता है कि जिसका पीछे उल्लेख किया गया कि– ''वह नौ बिन्दुओं के खेल से आगे की कथा है।'' (वही, पृष्ठ-16)।

कार्तिक के जिस परेशान करने वाले सपने का हवाला यहाँ दिया गया है, वह दरअसल वही है जो उक्त बीज का पुष्पित-पल्लवित रूप है, जिसका संकेत ऊपर किया गया है। नौ बिन्दुओं का खेल जैसे-जैसे विकसित और सघन होता जाता है, उसका यह सपना न केवल धीरे-धीरे बड़ा और विविधायामी होता जाता है, बल्कि बार-बार पुनरावृत्त भी होता रहता है, लेकिन सबसे रुचिकर तथ्य यहाँ यह है कि बार-बार आने वाले इस भयावह सपने को लेकर कार्तिक कतई परेशान और चिन्तित नहीं है, बल्कि इसके उलट वह बहुत उत्फुल्ल है, इस कदर उत्फुल्ल कि मानो उसे कोई दिक्सूचक यन्त्र मिल गया हो! कार्तिक की यह उत्फुल्लता दरअसल वास्तविक यथार्थ को उसके असल प्ररूप में जान और पहचान लेने की

है, जो अमूमन अच्छे-अच्छों को पकड़ में नहीं आता। वास्तविक यथार्थ अपने असल रूप में जान लिया जाए तो फिर उसके समाधान की गुंजाइश भी कहीं न कहीं से, किसी न किसी तरह से निकल ही आती है। यह ठीक उस तरह है, जैसे प्रश्न या समस्या को सही-सही समझ लेना, उसका आधा हल माना जाता है। सवाल यहाँ यह नहीं है कि लेखक यथार्थ को उसके वास्तविक रूप में पकड़ रहा है या नहीं? हालाँकि यह सवाल भी है ही तो! लेकिन इससे भी बड़ा सवाल वस्तुत: यह है कि इस यथार्थ के गुंजलक से निकलने का कोई रास्ता उसके पास है या नहीं? सिर्फ विडंबनात्मकता में रचना को बेसहारा छोड़ देना श्रेष्ठ किस्म की सृजनशीलता नहीं है, बल्कि इस विडम्बना में से कोई आगे का रचनात्मक विकल्प हासिल करना सामान्य पाठक की दृष्टि से ज्यादा काम्य है। उपन्यास के अन्तिम अध्याय में लेखक कार्तिक के जिस भयावह सपने का विवरण देता है, जो कि पूर्व-उल्लखित बीज का इस बीच बेतरह विकसित हुआ दैत्याकार रूप है, वह एक तरह से लेखक का एक ऑब्जर्वेशन ही है, बहुत ईमानदारी और साफगोई के साथ प्रस्तुत किया गया एक गहन पर्यवेक्षण, जो पाठक की आँखें खोल देता है! जैसा कि कहा गया, यह ऐन आज का भीषणतम वैश्विक यथार्थ है, जिसके चंगुल में भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों की आबादियाँ बुरी तरह फँसी पड़ी हैं। यह नए कॉर्पोरेट पूँजीवाद का नितान्त नई प्रविधि में ढला शोषण-चक्र है, जिसे यदि नहीं रोका गया तो आधी से ज्यादा दुनिया देखते-देखते शून्य में विलीन हो लेगी! लेखक अपना अनुभव इस तरह प्रस्तुत करता है– ''हाँ, एक और सपना। तुम जिस दिन गए, उस रात मैंने एक और सपना देखा। मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है, जो धमन भट्ठी की तरह है जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है- सतत प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है। मेरे देखते ही देखते वह मशीन एक ऑटोमेटन में बदल गई जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस ऑटोमेटन में खींचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश, उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे, रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल-जैसा कुछ था जो उन्हें सोख रहा था। अन्तत: वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में ही परिवर्तित हो गई और उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है ये दिखना बन्द हो गया।'' (वही, पृष्ठ-130-31)। लेखक का यह ऑब्जर्वेशन एक भयावह रूपक के रूप

में है। निश्चय ही लेखक का यह रूपकात्मक ऑब्जर्वेशन उसकी निगूढ़ यथार्थ-चेतना और अन्तर्दृष्टि का प्रमाण है। पाठक इस रूपक से एकदम स्तब्धता की स्थिति में खुद को पहुँचा हुआ अनुभव करता है।

एक हिसाब से उपन्यास यहाँ पूरा हो जाना चाहिए था। इस रूप में यह एक श्रेष्ठ विडंबनात्मक यथार्थवादी कृति मानी जाती, लेकिन उपन्यास यहाँ से आगे भी चलता है और इस यथास्थिति में सशक्त हस्तक्षेप की पहल की ओर बढ़ता दिखाई देता है। हालाँकि यथास्थिति में हस्तक्षेप का यहाँ सिर्फ एक हल्का-सा संकेत है कि– ''हजारों स्वयंसेवकों ने एक बार दिल्ली जाना तय किया है, त्यागी से मिलने और अब तक किए काम का पैसा माँगने। कहते हैं, अब कुछ दिन तक त्यागी को बुरे सपने आने चाहिए...'' (वही, पृष्ठ-132)। स्वयंसेवकों का यह प्रतिरोध इस कथा का एक उल्लेखनीय विकास है, जो सिरे से इसके संलक्ष्य को बदल देता है। हो सकता है, अब ब्लैक होल की नियति से इन्हें छुटकारा मिल जाए!

निश्चय ही, उपन्यास में निबद्ध यह प्रतिरोध सामाजिक उद्यमिता (सोशल एंटरप्रेन्योरशिप) की सैद्धान्तिक व व्यावहारिक उत्प्रेरणाओं के तहत है। उपन्यास के समापन में नन्दिता के ये अभिकथन इस बात की तस्दीक करते हैं कि लेखक सामाजिक उद्यमिता की अन्तर्वस्तु और कार्य-प्रणाली को इस हस्तक्षेप और नियति-परिवर्तन का औजार बनाना चाहता है। हालाँकि यह पूँजीवाद के ढाँचे के अन्तर्गत ही, लेकिन इसकी कार्य-विधि और सारतत्व इतना विशद और व्यावहारिक/डाउन टू अर्थ है कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी अपनापे के साथ इसमें शामिल हो सकता है और समाज में बदलाव लाने के इरादों की प्रक्रिया में अपना योग दे सकता है। सामाजिक उद्यमता की सैद्धांतिकी और अवधारणा पर गहराई से विचार किया जाए तो उसकी अन्तर्वस्तु में सामाजिक बदलाव की एक पुख्ता धारणा अनुस्यूत मिलेगी जो इस पूरे अभिक्रम को समाजवाद के रास्ते की ओर भी अग्रसर कर सकता है। समाजवादी अर्थशास्त्र के अनेक तत्व सामाजिक उद्यमिता की अर्थव्यवस्था में सहज ही अनुभुक्त किए जा सकते हैं। यह नितान्त स्वाभाविक ही है कि 'हाऊ टू चेंज द वर्ल्ड' (न्यूयॉर्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2007) के लेखक डेविड बॉर्नस्टीन अन्य अनेक सामाजिक उद्यमियों की तरह उसकी रचनात्मक, गैर-पारम्परिक रणनीतियों के कारण सामाजिक उद्यमी के साथ 'सोशल इनोवेटर' (social innovator) शब्द का इस्तेमाल करते हैं। इसी तरह सामाजिक उद्यमिता सम्बन्धी वैचारिकी का अध्ययन करने पर यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक उद्यमी अपने लाभ मार्जिन को बदलने/बढ़ाने के

बजाय बड़े पैमाने पर समाजों को बदलना चाहते हैं। समाज को बेहतर स्थिति में लाने के लिए सामाजिक उद्यमी विभिन्न प्रकार के संसाधनों का उपयोग करते हैं। इसके अलावा यह भी रेखांकित किए जाने योग्य है कि सामाजिक उद्यमिता के मार्फत यह जो बदलाव आता है, उसका श्रेय किसी एक व्यक्ति या समूह या संस्थान के माथे नहीं जाता, बल्कि आस-पास के पूरे समाज और समुदाय के सिर आता है। जॉन एल्किंगटन का अभिमत है कि ''उद्यमियों की विशिष्ट विशेषता यह है कि वे परिवर्तन करने का श्रेय शायद ही कभी लेते हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि वे जो बदलाव लाए हैं, वह उनके आसपास के सभी लोगों के कारण है। वे भी भावनाओं से प्रेरित होते हैं, वे मुख्य रूप से/प्राथमिक तौर पर लाभ कमाने की नहीं बल्कि दु:ख को दूर करने की कोशिश कर रहे होते हैं।'' (द पॉवर ऑफ अनरीजनेबल पीपल)।

दरअसल, उद्यमिता और सामाजिक उद्यमिता के बीच यही अन्तर है, जो सृजन के उद्देश्य के अन्तर के चलते उपजा है। सृजन के उद्देश्य का अन्तर यहाँ साफ है और वह यह है कि जैसा कि कहा गया, लाभकारी उद्यमी आमतौर पर लाभ, राजस्व और स्टॉक की कीमतों में वृद्धि जैसे व्यावसायिक मीट्रिक का उपयोग करके अपने प्रदर्शन को मापते हैं, जबकि सामाजिक उद्यमी या तो गैर-लाभकारी हैं या वे सकारात्मक 'समाज में वापसी' उत्पन्न करने के साथ लाभ के लक्ष्यों को मिलाकर देखते हैं। निश्चय ही यह सारी प्रक्रिया समाज में स्थाई बदलाव लाने में सक्षम होती है। जे.एल. थॉम्पसन के मतानुसार ''सामाजिक उद्यमिता आमतौर पर गरीबी-उन्मूलन, स्वास्थ्य देखभाल और सामुदायिक विकास जैसे क्षेत्रों में स्वैच्छिक क्षेत्र (voluntary sector) से जुड़े व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय लक्ष्यों को आगे बढ़ाने का प्रयास करती है।''

संतोष चौबे के इस उपन्यास में सामाजिक उद्यमिता के ये सारे अभिलक्षण साफ तौर पर देखे जा सकते हैं। मांडू के मालवा रिट्रीट में आयोजित ब्रेन स्टॉर्मिंग सेशन तथा फ्रीक आउट सेशन या ब्लैक कॉफी सेशन में तथा बाद में छत्तीसगढ़ के दूर-दराज के स्थानों व नक्सल-प्रभावित क्षेत्रों के केन्द्रों के त्यागी के दौरे के समय के कथा-विवरण इस बात की तस्दीक करते हैं। दरअसल कार्तिक के द्वारा संचालित ग्रामीण सूचना केन्द्रों का मॉडल गठित ही इस तरह से किया गया है कि आगे चलकर धीरे-धीरे वे सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकें! मांडू के इस ब्रेन स्टॉर्मिंग/फ्रीक आउट सेशन या ब्लैक कॉफी सेशन के अगले दिन सुबह के सत्र में, जहाँ जगह-जगह से आए ग्रामीण सूचना

तकनीक केन्द्र-संचालक अपने-अपने सपने सबके सामने शेयर करते हैं, वहाँ कार्तिक भी अपना सपना शेयर करता है। यह नितान्त ही स्वाभाविक है कि उसके सपने अपने सभी केन्द्र-संचालकों के सपनों का समुच्चय हो। इन केन्द्र-संचालकों के सपनों पर ध्यान केन्द्रित करने पर स्पष्ट होता है कि ग्रामीण अँचल की जिन्दगी में बदलाव लाना तथा उसमें नई-नई वैकल्पिकताएँ विकसित करते जाना इनका लक्ष्य है। यह बदलाव और वैकल्पिकताएँ वे हैं, जिनकी कभी इन लोगों को अपनी सरकारों से उम्मीद थी, लेकिन धीरे-धीरे वह सारी उम्मीद टूट ली! अब इन लोगों ने इन परिवर्तनों की पहल अपने हाथ में ली है और इन्हें ग्रामीण जनों से अच्छा रिस्पांस भी मिल रहा है। जैसा कि कहा गया, यह बदलाव होगा पूँजीवादी फ्रेमवर्क के अन्दर-अन्दर ही, लेकिन इसकी दिशा समाजवादोन्मुख होगी, यह भी निश्चित है। यह बदलाव ग्राम्य-जीवन की दुरूहताओं को कम करेगा, जीवन जीने की प्रक्रिया को आसान करेगा और उन्हें जरूरी सुविधाएँ उपलब्ध कराते हुए विकास की प्रक्रिया में लायेगा, जिससे वह लगभग बाहर कर दिया गया है। यह विशेषतः रेखांकित किए जाने योग्य है कि कार्तिक अपने सपने में पंचायतों के रास्ते देश के कायापलट की लक्ष्यबद्धता के अपने उद्देश्य को उल्लिखित करता है। उपन्यासकार लिखता है– ''दोस्तो, मेरा सपना आप सबके सपनों को मिलाकर बनता है। सोचिए कि हमारे देश में दो लाख पचास हजार पंचायतें और सात लाख गाँव हैं। अगर हर पंचायत में आपके जैसा एक उद्यमी और एक उद्यम खड़ा हो जाए तो क्या देश की कायापलट नहीं हो जाएगी! जरूरत इस बात की है कि ये सपना देखा जाए और उसे पूरा करने के प्रयास हों। अभी हम एक हजार पंचायतों तक पहुँचे हैं। राजशेखर जी मदद करेंगे तो हम पूरे देश में पहुँच जाएँगे।'' (सपनों की दुनिया में ब्लैक होल, आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल, प्रथम संस्करण 2022, पृष्ठ-46-47)। जैसा कि हम जानते हैं, राजशेखर और त्यागी की जोड़ी तथा राज्य का पूरा अमला कार्तिक और उसके केन्द्रों की कोई मदद नहीं करता, बल्कि इसके उलट न केवल असहयोग बल्कि उन्हें दूध में से मक्खी की तरह निकालकर उसके मॉडल को हाईजैक करने की असफल कोशिश करता है। उपन्यास में इस बात के भी कुछ संकेत हैं कि सरकार सामाजिक उद्यमी जैसी किसी अवधारणा से इत्तिफाक नहीं रखती। वह कुछ करना और होते देखना तो चाहती है, लेकिन सिर्फ इस स्थिति में और इस उद्देश्य से कि इससे उसे राजनीतिक लाभ मिले। यदि कोई स्कीम उसे सत्ता तक पहुँचाने, सत्ता में बनाए रखने, उसकी कीर्ति चमकाने में सहायक नहीं होती तो उसके लिए वह व्यर्थ है। और इसके अलावा

यह भी कि जो भी स्कीम चल रही है और जो भी उसका बजट है, वह जनता तक पहुँचे, उससे पहले उसमें से उसके लोगों का एक निश्चित हिस्सा उन तक पहुँच जाए! उसके बाद उस स्कीम का जो चाहे हो!

सामाजिक उद्यमिता के कार्यकर्ताओं की ही यह सामर्थ्य और सक्षमता है कि वे देश के उन दुर्गम/जंगली इलाकों में भी सफलता और स्थानीय निवासियों के साथ सहयोगपूर्ण तरीके से काम कर सकते हैं, जहाँ कथित रूप से नक्सली अपनी समानान्तर सत्ता कायम किए हुए बताए जाते हैं। उपन्यास में त्यागी के दौरे के समय वाले हिस्से में इस प्रसंग को कथान्वित किया गया है। जगदलपुर से आगे दंतेवाड़ा से लेकर सुकमा तक के क्षेत्र की यात्रा करते हुए कार्तिक की टीम से जुड़े लोग जहाँ निष्फिक्र और आश्वस्त नजर आते हैं, त्यागी की जैसे इस इलाके का नाम सुनते ही घिघ्घी-सी बँध जाती है। सरकारी शब्दावली में एलडब्ल्यूई यानी लेफ्ट विंग एक्सट्रीमिस्ट कहे जाने वाले इस इलाके के लोगों के बीच जाने में कार्तिक की टीम के लोगों को डर क्यों नहीं लगता और त्यागी जैसे अफसरों का इनका जिक्र आते ही बुरा हाल भला क्यों हो जाता है? लेखक पूरी तसल्ली से एततसंबंधी वस्तुस्थिति साफ करता चला है। वह कहता है कि कार्तिक के लोगों को डर इसलिए नहीं लगता कि वे इन लोगों को पहले से ही अपने विश्वास में लेकर चलते हैं। कार्तिक के लोग इन्हें विश्वास में कैसे लेते हैं या इनका विश्वास कैसे जीतते हैं? लेखक साफ करता है कि यह बहुत ही संवेदनशील और सतर्क तरीके से डील किए जाने वाला मामला है, यह कोई भाववादी या वर्चस्वकारी या लोभ-लाभ का मसला नहीं है। लेखक यहाँ जल-जंगल-जमीन पर आदिवासियों के मूलभूत वैध अधिकार की बात भी उठाता है और इस क्षेत्र के कथित विकास के आज की सरकारों के मॉडल की आलोचना भी करता है। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि लेखक खुद इनके प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत नहीं होता, बल्कि वह इन्हें कथा के बीच इतना पर्याप्त स्पेस देता है कि ये खुद आगे आकर अपनी बात रख सकें! त्यागी जब कार्तिक से पूछता है कि ''आपको यहाँ कभी नक्सलवादियों ने परेशान नहीं किया?'' (वही, पृष्ठ-95) तो इसका जवाब कार्तिक खुद नहीं देता बल्कि नक्सलवादी इलाकों में सेन्टर चलाने वाले लक्ष्मैया वासम, किश्टैया कुडेम, भीमैया, मुराराम, पत्तीराम पोडियाम, कहारू कोर्राम, सकालू, सोनी मरकाम, समारू बघेल और बुधराम जैसे बीजापुर, नारायणपुर, जगदलपुर जैसे इलाकों से जुड़े कार्यकर्ता मोर्चा सँभालते हैं और त्यागी की बातों का माकूल जवाब देते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये कार्यकर्ता वैचारिक रूप से भी एकदम स्पष्ट और समृद्ध हैं।

सामाजिक उद्यमिता सामाजिक बदलाव करने की स्थिति में तभी आती है, जब ऐसी वैचारिक तैयारी उसने कर रखी हो! जैसे कि इनमें से एक कार्यकर्ता कहता है– ''मूल लड़ाई जल, जंगल और जमीन की है...'' (वही, पृष्ठ–96)। त्यागी जब कहता है कि ये तो नेशनल रिसोर्स हैं। देश के विकास में इनका उपयोग होना चाहिए, तो इसका जवाब एक और केन्द्र–संचालक लक्ष्मैया वासम इस तरह देता है– ''सर मूल दिक्कत इसी समझ से है। विरोध विकास का नहीं है। विरोध इस बात का है कि हमें उसमें शामिल नहीं किया जा रहा। सदियों से हमारे पूर्वज इस क्षेत्र में रह रहे हैं। अगर आप हमारे पारम्परिक कामों को खत्म कर, हमारी जमीन पर बड़े–बड़े प्रोजेक्ट लगाएँ तो उनमें हमें भी तो शामिल करिए...'' (वही)। यह कैसी अजीब बात है कि एक तरफ सरकारों के ये वादे और दावे हैं कि वे इन क्षेत्रों के विकास के लिए, आदिवासियों को विकास की मुख्यधारा में लाने के लिए, नए रोजगार–सृजन के लिए, जिसमें इन आदिवासियों का भी हिस्सा होगा, जल–जंगल–जमीन के संसाधनों को राष्ट्र–हित में अधिग्रहीत कर रही है, लेकिन अन्य अनेक हिन्दी उपन्यासों के साथ–साथ संतोष चौबे का यह उपन्यास भी अपनी लगभग ग्राउंड–रिपोर्ट में इन दावों और वादों की असल हकीकत सामने ले आता है। एक हस्तक्षेपकारी कला–रचना यही करती है और इसीलिए याद भी की जाती है। आगे, सोनी मरकाम इस बात को और आगे बढ़ाता है। वह कहता है, ''लेकिन मूल बात ये है कि आपकी विकास की अवधारणा क्या है और क्या आप उसमें लोगों को शामिल कर रहे हैं, विशेषकर उनको जिनके संसाधन इस विकास की प्रक्रिया में छीने जा रहे हैं। आपके सबसे पहले सवाल का जवाब ये है कि वे हमें परेशान नहीं करते, शायद इसलिए कि हम ये सन्देश देने में सफल रहे कि हम जो काम कर रहे हैं उसमें उनका अहित नहीं है...'' (वही, पृष्ठ–98)।

इस बातचीत में 'सल्वा जुडूम' का प्रसंग भी आता है। सल्वा जुडूम जैसी 'फूट डालो–राज करो' वाली नीति के तहत चलाई गई शातिराना योजना अन्ततः किस तरह मुँह की खाती है यह भी यहाँ दर्ज किया गया है। सल्वा जुडूम आदिवासियों को आपस में लड़–भिड़कर तबाह होने देने और जहाँ कसर रह जाए, वहाँ पुलिस को लगा देने की एक हिंसामूलक जन–विरोधी सरकारी योजना थी, जो असलियत पता चलने के बाद खुद आदिवासियों द्वारा निरस्त कर दी गई। लेखक पर्याप्त परिपक्वता के साथ इस मुद्दे पर अपना रुख स्पष्ट करता है। सल्वा जुडूम तो सिर्फ एक माध्यम था, लक्ष्य था, आदिवासी अस्मिता और समूह–शक्ति को छिन्न–भिन्न कर इस कदर अशक्त कर देना कि वे कोई प्रतिरोध कर सकने की स्थिति में ही

न रह जाएँ! प्रतिरोध लेकिन उनका जारी रहता है और सल्वा जुडूम राज्य को वापस लेना पड़ता है। यह सम्भवतः सामाजिक उद्यमिता की अन्तर्वस्तु और अन्तःशक्ति ही है कि लेखक उन दुर्गम इलाकों तक भी अपनी पहुँच बना सका, जहाँ सरकारी योजनाएँ फटक नहीं सकतीं। सरकार अपनी मंशा में कभी साफ नहीं होती, दोगलापन उसकी फितरत है, वह खुद आदिवासियों को धोखे और अँधेरे में रखती है। कार्तिक इस मामले में अपना साफ स्टैंड रखता है। उसका यह साफ मानना है कि सरकार और उसके अफसरान ईमानदारी बरतें तो यह समस्या आसानी से हल हो सकती है। यहाँ उपन्यास यह एक अस्पष्ट-सा किन्तु सम्भवनीय संकेत देता है कि नक्सलवाद की समस्या के पैदा होने और उसके पेचीदा रूप लेते जाने में राज्य की नीतियाँ और कार्रवाइयाँ ज्यादा जिम्मेवार हैं। सामाजिक उद्यमिता के रास्ते जमीनी स्तर पर काम करते हुए बहुत-सारी वस्तुस्थितियाँ साफ होती चलती हैं। सरकार का उद्देश्य समाधान नहीं, सिर्फ शोषण है! जमीनी स्तर पर काम करते हुए ही कार्तिक और उसके साथी इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि ''अगर जल, जंगल और जमीन, जिन पर आदिवासी निर्भर करते हैं, को सरकार छीने तो उसे उनके जीवन की वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में भी सोचना चाहिए।'' (वही, पृष्ठ- 96-97)। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उपन्यास में जल-जंगल-जमीन सम्बन्धी आदिवासियों की साधिकारिकता का सन्दर्भ बार-बार लेखक द्वारा प्रासंगिक बनाया गया है और पाठकों का ध्यान लगातार इस ओर खींचा गया है। जैसा कि कहा गया, यह शायद सामाजिक उद्यमिता की बदौलत ही है कि उसके छोटे से छोटे कार्यकर्ता को भी यह रहस्य पता चल जाता है कि सरकार क्या अनर्थ और अन्याय कर रही है! जगदलपुर के आसपास सेन्टर चलाने वाला सोनी मरकाम त्यागी जैसे शक्तिशाली अफसर के सामने जो यह इतना बेधड़क बोलता है, जैसे कि वह उन्हें आईना ही दिखा रहा हो, तो इसमें सामाजिक उद्यमिता से पैदा हुई सचेतनता का भी बराबर का हाथ है। कहता है- ''देखिए, हमारे समाज की अपनी लोकतान्त्रिक व्यवस्था थी और वह सदियों से चली आ रही थी। आपने उसके बदले ग्राम सभाएँ बना दीं। पर क्या ग्रामसभा से पूछकर काम होता है? और फिर ग्रामसभा को भी सरकारी अधिकारी मैनिपुलेट करते हैं, फर्जी दस्तखत करवा लिए जाते हैं। आदिवासियों की सरलता और निरक्षरता का लाभ उठाया जाता है। अगर उसका विरोध होता है तो पुलिस भेज दी जाती है। हिंसा इसलिए होती है।'' (वही: पृष्ठ-97)। शायद इसीलिए कहा जाता है कि सामाजिक उद्यमिता की अवधारणा सही तरीके से व्यवहार में लाई जाकर साधारण से साधारण व्यक्ति को भी सशक्त

और सतर्क बना देती है।

सामाजिक उद्यमिता सामुदायिक विकास का एक नया और उत्साहवर्द्धक मॉडल निर्मित कर सकती है। सामाजिक उद्यमिता की, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया, सर्वप्रधान प्रवृत्ति यह होती है कि वह जहाँ उसके केन्द्र सक्रिय होते हैं, वहाँ के आसपास के समाज, उसकी महत्वपूर्ण जरूरतों, माँगों व लोगों की अपेक्षाओं के हिसाब से अपनी कार्यगत प्राथमिकताएँ तय करती है। इस मामले में उसका कोई तयशुदा या शाश्वत प्रारूप नहीं होता। स्थान, परिवेश, समय, लक्ष्यबद्ध समाज/सामाजिक समूह की जरूरतों के अनुसार हर केन्द्र की प्राथमिकताएँ और कार्यसूची भिन्न हो सकती हैं। इस उपन्यास में स्थान और आबादी तथा अवसर के हिसाब से हर केन्द्र अपनी भिन्न प्राथमिकताएँ तय करता दिखाई देता है। जैसे कि जीरम घाटी इलाके में तय किया गया कि वहाँ शिक्षा पर प्राथमिकता से काम हो– ''वे अधिकतर केन्द्र शिक्षा के काम में लगे थे क्योंकि शिक्षा ही वहाँ की सबसे बड़ी जरूरत थी।'' (वही, पृष्ठ-94)। कार्तिक अपने शोध और रचनात्मक सूझ-बूझ के अनुसार सामाजिक उद्यमिता के परम्परागत ढाँचे में बहुत सारी तब्दीलियाँ भी करता है। इन तब्दीलियों के साथ ही वह अपना अलग मॉडल निर्मित करने में सफल होता है। एक तरह से देखा जाए तो यहाँ भी समानता और जनतान्त्रिकता के लिए भरपूर स्पेस उसके मॉडल में है। मांडू के ब्रेनस्टॉर्मिंग सेशन का पूरा कथात्मक विवरण यह स्पष्ट करता है कि किस तरह अलग-अलग केन्द्र-संचालक अपने-अपने क्षेत्र की जरूरतों और अपनी स्वयं की आकांक्षाओं और सपनों के मद्देनजर अपना अलग-अलग उद्यम चालू किए हुए हैं या चालू करना चाहते हैं। इस सेशन में एक जगह कार्तिक कहता भी है कि– ''मित्रो, आपने बहुत सारे नए आइडियाज इस बैठक में शेयर किए हैं। सबसे बड़ी बात ये है कि आप सिर्फ कम्प्यूटर प्रशिक्षण तक ही सीमित नहीं हैं। स्थानीय माँग के अनुरूप आप नए-नए काम भी शुरू कर रहे हैं। इसे ही हम मल्टीपरपजनेस कहते हैं जो ग्रामीण क्षेत्र में बचे रहने के लिए बहुत जरूरी है।'' (वही, पृष्ठ-32)। राजशेखर ठीक ही इसे 'माइक्रो एंटरप्राइजेज' खड़ी किए जाने का दिलचस्प उदाहरण कहता है। (वही)। दरअसल ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन व पुनर्यौवन के लिए इस तरह के माइक्रो एंटरप्राइजेज अथवा मल्टीपरपज उद्यम केन्द्र स्थापित किए जाने की आज सख्त जरूरत है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन व पुनर्यौवन की चिन्ता इस उपन्यास की कथा और इसके रचनाकार की प्रमुख चिन्ताओं में से एक है। इसे यदि सर्वप्रमुख चिन्ता मान लिया जाए तो भी कोई उज्र नहीं। असल में जैसा कि मैंने ऊपर बार-बार कहा,

सामाजिक उद्यमिता अपनी समाजवादोन्मुखता के चलते ग्रामीण अर्थव्यवस्था में एक नई जान फूँकने का सामर्थ्य रखती है। मांडू के सेशन में कार्तिक देश के कायापलट की जो बात करता दिखाई देता है, उसमें कहीं न कहीं ग्रामीण अर्थव्यवस्था का कायापलट केन्द्र में है। बिना ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बदले इस देश की दरिद्रता को दूर नहीं किया जा सकता। पूरे उपन्यास की कथा में ग्रामीण अर्थव्यवस्था एक उत्प्रेरक अन्त:सूत्र की तरह शुरू से आखिर तक उपस्थित है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था की जरूरतों, विवशताओं, वृत्तियों के अनुरूप अपने कम्प्यूटर सेन्टर स्थापित करना एक भिन्न रणनीति और संदृष्टि की माँग करता है। उपन्यास के शुरू में ही भारतीय प्रबन्धन संस्थान के अपने प्रेजेंटेशन में कार्तिक इस तथ्य को रेखांकित करता है कि ग्रामीण भारत में कम्प्यूटर क्रान्ति की पहुँच बनाने के लिए सबसे पहले हमें यहाँ के गाँवों, वहाँ की रोजमर्रा की समस्याओं, लोगों की तरह-तरह की जरूरतों/अपेक्षाओं, वहाँ के स्थानीय पारिस्थितिकी तन्त्र (इकोसिस्टम/ecosystem), इत्यादि सब चीजों को समझना होगा। वह कहता है– ''...यह सच है कि कम्प्यूटर क्रान्ति को गाँवों तक जाना है, पर इसके लिए हमें अपने गाँवों को भी समझना होगा।'' (वही, पृष्ठ-18)। इस सिलसिले में आगे वह बिजली और कनेक्टिविटी की समस्याओं, भाषा की दिक्कत आदि की बात उठाता है। वह पिनपॉइंट तरीके से लक्ष्य करता है कि ''शहर में होने वाले वर्टिकल इंटेग्रेशन के बदले गाँवों के स्तर पर हॉरिजेंटल इंटेग्रेशन पर जोर'' देना होगा। (वही)। भाषा की बात बार-बार उपन्यास में आती है। कार्तिक इस बात के लिए सरकारी प्रतिनिधियों के सामने ही सरकारी नीति की स्पष्ट आलोचना करता है। भारत सरकार के ज्वाइंट सेक्रेटरी राजशेखर से वह कहता है- ''जी, सबसे बड़ी दिक्कत ये है कि सरकार तलाश तो एक ग्रामीण मॉडल की कर रही है पर सोच शहरों की तरह रही है। ...अगर सूचना-क्रान्ति को गाँवों तक जाना है, तो हमें सबसे पहले गाँवों को समझना होगा। ...अगर आपको कम्प्यूटर तकनीक का विस्तार गाँवों में करना है तो वह हिन्दी और भारतीय भाषाओं में ही होगा। नब्बे प्रतिशत भारतीय अँग्रेजी नहीं बोलते, पर प्रशिक्षण अँग्रेजी में दिए जा रहे हैं, प्रशिक्षक टाई और कोट पहनकर अँग्रेजी बोल रहे हैं, विदेशों के ख्वाब दिखाए जा रहे हैं। इस तरह तो आप पहले ही अपने आप को देश से काट लेते हैं। फिर आप गाँवों तक पहुँचेंगे कैसे? यही सोचकर हमने सबसे पहले कम्प्यूटर प्रशिक्षण हिन्दी में देना शुरू किया।'' (वही, पृष्ठ- 20-21)।

ग्रामीण कम्प्यूटर सेन्टरों का मल्टीपरपज होना ग्रामीण अर्थव्यवस्था का ही तकाजा है। कोई भी ग्रामीण उपक्रम मल्टीपरपज बनकर ही फल-फूल सकता है।

गाँव में छोटी पूँजी से काम होता है, इसलिए कम-कम लागत में बहुत सारे काम शुरू कर देने से पैसा जल्दी घूमता है और रुचिरता और व्यस्तता भी बनी रहती है। इसके साथ ही सेन्टर ऐसी जगह पर हो, जो गाँव के नोडल प्वाइंट हों, जहाँ लोगों की आमद-रफ्त भी ज्यादा होती है, जो लोगों की तरह-तरह की गतिविधियों, आवागमन, व्यवसाय आदि के केन्द्र हों। इससे उद्यम भी बढ़ता है और सामाजिक सम्बन्ध भी विकसित होते हैं। आपसी बातचीत के उसी क्रम में कार्तिक राजशेखर को बताता है कि सेन्टर के मल्टीपरपज होने का विचार उसके मन में कैसे आया। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि गाँव को समझने के लिए गाँव जाना, वहाँ के जीवन और परिस्थितियों को जानना/अनुभव करना भी बहुत जरूरी है- ''...मैं गाँवों को समझने के लिए गाँव जाता ही रहता हूँ। एक बार मैं एक ढाबे में चाय पीने रुका। देखा, वह ढाबे वाला खाना भी खिला रहा था, फिर खाने के बाद आप वहाँ पान भी खा सकते थे। ढाबे के सामने ही मैकेनिक की दुकान थी जो आपकी गाड़ी पर छोटा-मोटा मेंटेनेंस कर सकता था, पहियों में हवा भर सकता था। वही ढाबे वाला ऑडियो कैसेट्स भी रखता था, फिर वह म्यूजिक सीडी रखने लगा. .. तो अचानक वहाँ पर बैठे-बैठे मुझे ग्रामीण मॉडल समझ में आया। उसे मल्टीपरपज होना था, सिर्फ एक काम करके आप बचे नहीं रह सकते थे। इकॉनॉमी का स्केल छोटा था, इसलिए उद्यमी को बचे रहने के लिए, ढाबे वाले की तरह, एक से ज्यादा काम करने होंगे, यह मुझे समझ में आया। हमारे कम्प्यूटर सेन्टर भी ऐसे ही कुछ होंगे, मैंने सोचा। एक ढाबे की तरह मल्टीपरपज।'' (वही, पृष्ठ-21-22)।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था का जिक्र आगे भी कई बार आता है। मुख्य बात यह है कि गाँवों का अपना इको सिस्टम होता है, जिसे पहचानकर उपक्रम की संरचना बनानी होती है। पैसे की किल्लत वहाँ नहीं है, जरूरत सिर्फ इस बात की है कि क्षेत्र के इतिहास, भूगोल, पारिस्थितिकी-तन्त्र, लोगों की अपेक्षाओं, जरूरतों आदि को पृष्ठाधार बनाकर काम शुरू किया जाए! राजशेखर द्वारा बुलाए जाने पर दिल्ली की उच्चाधिकारियों की बैठक में अपना प्रेजेंटेशन देते हुए कार्तिक जो कुछ कहता है, वह सामाजिक उद्यमिता के मार्फत ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन के ब्लू प्रिन्ट जैसा प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि सरकार को इस सबकी जानकारी न हो। जानकारी वह प्राप्त भी कर सकती है, लेकिन जब दिल में पाप और फरेब हो तो कोई भी ज्ञान काम नहीं करता है। कार्तिक के माध्यम से वह यह काम कर सकती थी, लेकिन उसकी इच्छाशक्ति ही ऐसी नहीं है। उसे व उसके बिचौलियों

के मुँह को जब खून लगा हो तो कोई भी, कैसा भी मॉडल उनके किसी काम का नहीं! जो हो, लेकिन सरकारी अमले की यदि मंशा हो तो कुछ भी हो सकता है, मंशा न हो तो हो गया हुआ काम भी व्यर्थ जा सकता है। जैसा कि कार्तिक के मामले में उसके रवैए में यहाँ देखने में आता है। इस पर पहले भी बात की गई। जो हो। यहाँ उपन्यासकार सरकार की बेईमानियों के साथ-साथ स्वयंसेवी संस्थाओं, संगठनों इत्यादि की पहलधर्मिता की बात भी उठाता है। सरकार करे न करे या जो चाहे करे, बाकी लोगों का भी यह दायित्व है कि वे इस मामले में आगे आकर सक्रिय हों। सामाजिक उद्यमिता इसका एक उम्दा मंच हो सकता है। जो हो। हम यहाँ पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था सम्बन्धी कार्तिक की आयोजनाओं/धारणाओं पर ध्यान दें– ''ये गलतफहमी है कि पहले पैसा आता है, फिर विचार। असल में अगर विचार अच्छा हो तो पैसा अपने आप आता है। ...ये भी एक और गलतफहमी है कि ग्रामीण क्षेत्रों में पैसा नहीं है। पैसा है, लेकिन वे आशा करते हैं कि उनका पैसा सही जगह लगे। मेरे मॉडल में उन्हें सम्भावना दिखी थी। वह दोस्ताना और भारतीय था। ...हमारे केन्द्रों की कीमत ही इतनी कम थी कि बैंकों को उसमें ज्यादा रिस्क नहीं दिखती थी। फिर रिटर्न्स भी सुरक्षित नजर आ रहे थे। सबसे बड़ी बात ये थी कि हमने अपने मॉडल को ग्रामीण अर्थव्यवस्था के हिसाब से छोटा कर लिया था। एक साधारण नवयुवक भी उन्हें संचालित कर सकता था। ये एक ऐसा 'इको सिस्टम' था जिसमें केन्द्र खड़े हो सकते थे, लहलहा सकते थे।'' (वही, पृष्ठ- 55-56)। कार्तिक के इस मॉडल की जो अर्थ-नीति है, वह पूँजीवाद के फ्रेम के अन्तर्गत होते हुए भी समाजोन्मुख/जनोन्मुख है। उसकी सबसे बड़ी पहचान और विशेषता यह है कि वह दोस्ताना और भारतीय है। सरकारी मॉडल न दोस्ताना होते हैं और न ही भारतीय, यह एक भारी विडम्बना ही है! कार्तिक के मार्फत लेखक यहाँ ग्रामीण अर्थव्यवस्था में नवोन्मेष का एक विकल्प देता है, जो इस उपन्यास की एक वैचारिक उपलब्धि मानी जा सकती है। निश्चय ही यह विकल्प सामाजिक उद्यमिता के बैनर तले है।

इस उपन्यास में रचनात्मकता और सकारात्मक रवैए का बहुत अधिक जिक्र है। ये दोनों बातें सामाजिक उद्यमिता की मूलभूत विशेषताओं/characteristics के बतौर जानी जाती हैं। Ashoka के संस्थापक बिल ड्रेटन (Bill Drayton) के अनुसार सामाजिक उद्यमियों में ये चार गुण स्वभावत: होने चाहिए, 1. रचनात्मकता, 2. उद्यमशीलता, 3. विचार का सामाजिक प्रभाव और, 4. नैतिक फाइबर। (डेविड बोर्नस्टीन, न्यूयॉर्क/2007 : हाउ टु चेंज द वर्ल्ड, पृष्ठ-121)। उनके अनुसार

रचनात्मकता के भी दो भाग होते हैं, एक, लक्ष्य-निर्धारण और दूसरा, समस्या-समाधान। इस क्रम में आगे कहा गया है कि ''सामाजिक उद्यमी इतने रचनात्मक होते हैं कि उनके पास एक विजन होता है कि वे क्या करना चाहते हैं और उस विजन को कैसे पूरा किया जाए'' (वही, पृष्ठ-124)। इस उपन्यास की कथा और इसके चरित्र, विशेषत: कार्तिक और उसकी टीम के सदस्य, नन्दिता आदि, सामाजिक उद्यमिता की इस कसौटी पर एकदम खरे उतरते हैं, बल्कि एक तरह से देखा जाए, तो यही उनके व्यक्तित्व का स्वात्म है। उपन्यास के अन्तिम अंश में जब कार्तिक ब्लैक होल वाले अपने उस भयावह सपने को अपने सभी प्रमुख सहयोगियों के साथ शेयर करता है और इसके समाधान का आव्हान करता है तो इसके जवाब में कार्तिक की सबसे प्रिय दोस्त नन्दिता प्रमुखत: दो बातें कहती है। पहली तो यह कि हम इस ब्लैक होल की पहुँच और पकड़ से बाहर रहें और दूसरी यह कि हम अपनी उस बद्धमूल रचनात्मकता को तलाशें, जो हमारे अन्दर सकारात्मक ऊर्जा के स्रोत संसृजित करती है– ''समाधान ब्लैक होल से दूर रहने में है। आप उससे इतना दूर रहें कि उसका गुरुत्वाकर्षण आपको प्रभावित न करे। ...समाधान वहाँ लौटने में है जहाँ हमें अच्छे सपने आते थे। जहाँ हम किसी भी तरह के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त थे। स्वतन्त्र थे। आखिर हमारी क्रिएटिविटी तो हमारे पास है, उसे हमसे कोई नहीं छीन सकता।'' (सपनों की दुनिया में ब्लैक होल, आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल, प्रथम संस्करण 2022, पृष्ठ-131)। सम्भवत:, लेखक का संकेत यह है कि सामाजिक उद्यमिता के क्षेत्र में काम करने वाले या काम करने की इच्छा रखने वाले लोगों को सरकार का मुखापेक्षी नहीं होना चाहिए, उन्हें अपनी स्वयं की प्रेरणा से पहल करते हुए स्वयंसेवी कार्यकर्ता के बतौर अपना काम शुरू कर देना चाहिए!

इस उपन्यास में स्वप्नशीलता की सक्षमता की बहुत चर्चा है। इसकी शुरुआत ही एक दु:स्वप्न से होती है, लेकिन आगे की सारी कथा इस दु:स्वप्न को एक सकारात्मक स्वप्नशीलता में तब्दील करने की कोशिश के बतौर खुलती चलती है। हालाँकि देखने की बात एक यह भी है कि कहानी की शुरुआत में जो सपना कार्तिक को बेतरह परेशान किए हुए है, वह दरअसल अपनी मूल प्रकृति में कोई दु:स्वप्न नहीं है। अपनी मूल प्रकृति में यह कथित दु:स्वप्न वस्तुत: इन सरकारी कारस्तानियों और इन्हें अंजाम देने वाले मन्त्रियों-अधिकारियों के विरुद्ध एक सशक्त प्रतिरोधी चेतना के तहत अमल में लाया गया एक्शन है, जो अपनी तत्व-प्रकृति में चाहे थोड़ा हिंसक हो, लेकिन वस्तुत: राजशेखर, त्यागी और मन्त्री जी इत्यादि के इस गैंग का अब लगभग यही एकमात्र इलाज रह गया प्रतीत होता

है! ये लोग किसी कीमत पर अपनी कारस्तानियों से बाज नहीं आयेंगे और जनता के टैक्स का सरकारी पैसा इनकी व्यक्तिगत जेबों में जाता रहेगा! लेखक जैसे अनेकानेक लोगों के अवचेतन में पलते इस प्रत्याक्रमणकारी प्रतिरोध को इन शब्दों में मुखर अभिव्यक्ति प्रदान करता है– ''...मैं अक्सर उस टेलीविजन स्क्रीन के भीतर घुस जाता हूँ, चलती प्रेस कॉन्फ्रेंस के बीच जाकर त्यागी का गला पकड़ लेता हूँ, कई बार राजशेखर के सामने टेबल पर बैठ जाता हूँ और उनसे पूछता हूँ कि उन सब वादों का क्या हुआ जो उन्होंने किए थे? मैं एंकर से पूछता हूँ कि आप चिल्ला-चिल्ला कर इतना झूठ क्यों बोल रही हैं?'' (वही, पृष्ठ-12)। उल्लेखनीय यहाँ यह है कि लेखक, चाहे अवचेतन में ही सही, इस तरह के प्रत्याक्रमणकारी प्रतिरोध से नाइत्तिफाकी नहीं रखता, अपितु इसके उलट यह उसे खुशगवार ही लगता है। कार्तिक के मार्फत जैसे वह कहता है– ''जब भी ऐसा होता है, मैं एक अजीब खुशी से भर जाता हूँ। एक बार तो मैंने एंकर से माइक छीनकर बोल भी दिया था कि इस पर विश्वास मत करो, ये झूठ बोल रही है।'' (वही)।

❑

उत्तर-महाभोज एक अलहदा राजनीतिक उपन्यास

नलिन रंजन सिंह

बहुत पहले मन्नू भंडारी का उपन्यास 'महाभोज' पढ़ा था। उस राजनीतिक उपन्यास को पढ़ने के बाद लगा था कि जनता तो हर सत्ताधारी वर्ग का महाभोज ही बनकर रह जाती है। आइसेक्ट पब्लिकेशन से प्रकाशित संतोष चौबे का उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' पढ़ते हुए कुछ-कुछ उन्हीं अनुभूतियों से गुजरना होता है। सत्ता अपने मूल चरित्र को नहीं बदलती और लालफीताशाही अपनी पीठ थपथपाने के लिए चुराये हुए विचारों का बखूबी इस्तेमाल करती है। इस उपन्यास में भी कार्तिक त्रिवेदी के विचारों का इस्तेमाल सरकारी अधिकारी बखूबी करते हैं।

पूर्व दीप्ति शैली में लिखे गये इस उपन्यास की शुरुआत कार्तिक त्रिवेदी की मन:स्थिति से होती है। उस मन:स्थिति में सरकारी तन्त्र के नियन्त्रण में चल रही मीडिया का सपना है, जहाँ बहुत सारी चीजें बेमतलब हैं, बनावटी हैं, झूठ हैं। इस कृत्रिमता को कार्तिक बदलना चाहता है। वह भयानक गुस्से में है और बार-बार सपने में उसे त्यागी, राजशेखर और मन्त्री याद आते हैं। वह टेलीविजन स्क्रीन के भीतर घुस जाने का सपना देखता है। चलती प्रेस कॉन्फ्रेंस में जाकर त्यागी का गला पकड़ लेना, राजशेखर के सामने टेबल पर बैठ जाना और उनसे चिल्लाकर पूछना कि उन वादों का क्या हुआ जो उन्होंने किये थे? एंकर से पूछना कि आप चिल्ला-चिल्ला कर इतना झूठ क्यों बोल रही हैं? मन्त्री जी की सिक्योरिटी का आ जाना, एंकर और मन्त्री का चीख-पुकार करना और राजशेखर का ये कहना कि 'इस देशद्रोही को बाहर निकालो', अपने आप में उन स्थितियों को बयान करने के लिए काफी है जो एक सच्चे इंसान के साथ अक्सर घटित होती हैं, जिन्हें सम्मानित होना चाहिए, जिनके विचारों को ग्रहण करके अरबों के अनुदान पाये जाते हैं, जिन्हें हमेशा संकट के समय याद करके ब्यूरोक्रेसी अपना काम चलाती है, उन्हीं को मतलब निकल जाने के बाद देशद्रोही भी कह देती है। इस मायने में यह एक

अवसरवादी और मतलबपरस्त नौकरशाही का सच्चा चित्रण करता हुआ उपन्यास है।

यह उपन्यास अमीर और गरीब की बढ़ती हुई खाई को भी चिन्हित करता है। संतोष चौबे लिखते हैं, 'एक ऐसा खेल जो भारत सहित पूरी दुनिया में खेला जा रहा था, जिसने उद्योगपतियों को धनी और बैंकों को कंगाल बना दिया था, जिनमें जनता का पैसा एक सकिंग-मशीन की तरह खींचा तो जा रहा था पर वहाँ से उसके लौटने की कोई गारंटी नहीं थी और कभी-कभी तो वह रूप बदलकर भव्य इमारतों की शक्ल में, इधर-उधर टहलते आवारा पूँजी के रूप में या तहखानों तथा बैंक लॉकरों में काले दानव के रूप में छुपा पाया जाता था। कार्तिक द्वारा सुझाए दसवें बिन्दु के रूप में मेहनत, ईमानदारी और उद्यम जैसे शब्द पुराने पड़ गये थे। उनकी जगह चालाकी, कपट तथा धोखेबाजी ने ले ली थी।' इन सारे सन्दर्भों के बाद उपन्यास शुरू होता है। इस उपन्यास को अभिषेक बनर्जी सुना रहा है और उसमें कथा नायक कार्तिक पूरी तरह से छाया हुआ है। भारतीय प्रबन्ध संस्थान में 'इनफॉरमेशन टेक्नॉलॉजी की ताकत और ग्रामीण भारत' विषय पर जो प्रजेंटेशन कार्तिक ने दिया था, उसने धूम मचा दी थी। कार्तिक के माध्यम से जब यह सन्दर्भ उपन्यास में आता है कि 'ऐसा लगा कि प्रबन्धन संस्थान के वे बुद्धिजीवी और छात्र ग्रामीण भारत की सच्चाइयों से पहली बार रूबरू हो रहे हैं।' तो प्रबन्धन संस्थानों की कलई भी खुलकर सामने आ जाती है। कार्तिक अपने विचारों में स्पष्ट है और वह चाहता है कि कम्प्यूटर क्रान्ति को अगर गाँव तक ले जाना है तो उसके लिए पहले हमें अपने गाँवों को समझना होगा। उसने लोगों को बिजली और कनेक्टिविटी की समस्याओं के बारे में बताया। भाषा की दिक्कत को लेकर बात की और यह भी बताया कि किस तरह उसने 1,000 से अधिक ग्रामीण सूचना तकनीक केन्द्र स्थापित किए हैं। कार्तिक का स्पष्ट मानना था कि 'सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि सरकार तलाश तो एक ग्रामीण मॉडल की कर रही है पर सोच शहरों की तरह रही है।' वह भी चाहता है कि राजशेखर जैसे लोग फील्ड में आकर उसकी टीम से मिलें, क्योंकि देखने और मिलने से जो समझ बनती है, वह एक प्रजेंटेशन से नहीं बनती है। राजशेखर दिल्ली से आते भी हैं। उनके लिए जिस जगह पर कार्यक्रम रखा गया है, वह है मध्यप्रदेश का मशहूर स्थान 'मांडू– सिटी ऑफ जॉय।' जब आधुनिक तकनीक से जुड़े सन्दर्भों को लेकर उपन्यास बात कर रहा है तो जाहिर है कि उसकी शब्दावली भी आधुनिक होगी। वहाँ अँग्रेजी के शब्दों का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। विशेषज्ञ बताते हैं कि दिल्ली में बैठी नौकरशाही अपनी अँग्रेजियत और शहरीपन से किस तरह से गाँव की भाषा,

संस्कृति, समाज और रहन-सहन से कटी हुई है। संतोष चौबे मांडू में हो रहे कार्यक्रम के बहाने मांडू के इतिहास को भी पूरी तरह से बयान करते हैं। इस तरह से कि जैसे मांडू का पूरा दृश्य खुलकर सामने आ जाता है। जहाज महल, हिंडोला महल, बाज बहादुर का महल, रूपमती का महल सब सामने खुलकर आते हैं। सल्तनत-काल और उसके पहले मांडू की स्थिति और फिर बाज बहादुर और रूपमती के प्रेम-प्रसंग के साथ गाइड छोटेलाल शास्त्री के गीत हमें सीधे मांडू पहुँचा देते हैं। मुझे मांडू जाने का सौभाग्य मिला है। मांडू में एक ईको-सिस्टम की जगह है और संतोष चौबे की लेखनी जैसे पूरे मांडू को ईको करके इसमें उतार देती है। उज्जैन, इंदौर, धार के आसपास का खान-पान और रहन-सहन का वर्णन पूरे मालवा को उपन्यास में उपस्थित कर देता है।

डॉ. अब्दुल कलाम की चर्चा, सपनों के सन्दर्भ में, इस उपन्यास में महत्वपूर्ण है। अब्दुल कलाम का कथन कार्तिक दोहराता है– "सपने वे नहीं होते जो सोयी आँखों में देखे जाते हैं। असल सपने तो वे होते हैं, जो जागी आँखों से देखे जाएँ। तो दोस्तों, आज हम उन सपनों की बात करेंगे जो जागी आँखों से देखे जा रहे हैं। जो आपकी आँखों में पल रहे हैं। आईये हम अपने सपनों की बात करें।" उपन्यास का शीर्षक भी है 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल'। यही ब्लैक होल उपन्यास के अन्त में आता है कि कैसे सपनों को मारा जा रहा है। याद आती है पाश की कविता– 'सबसे खतरनाक होता है हमारे सपनों का मर जाना।' वास्तव में सपनों की हत्या करने वाली नौकरशाही और सरकारी तन्त्र पर एक तमाचे की तरह पड़ता है इस उपन्यास का शीर्षक। राजा भोज और गंगू तेली के किस्सों को भी इस उपन्यास में बयान किया गया है। धार-भ्रमण के समय भी वहाँ के इतिहास को बेहतरीन तरीके से संतोष चौबे जी ने व्यक्त किया है। कार्तिक का दिल्ली जाना, वहाँ पर अपनी बात को रखना और हिन्दी में काम-काज के महत्व को स्पष्ट करना, ग्रामीण हलकों की स्थितियों को बयान करना, संतोष चौबे की पर्यवेक्षण शक्ति को दर्शाता है। किसी भी कथाकार को उसकी पर्यवेक्षण शक्ति उसे बड़ा बनाती है। संतोष जी इस मामले में बेहतरीन कथाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। जिस तरह से इस उपन्यास में उन्होंने अपनी पर्यवेक्षण शक्ति को दर्शाया है, उससे लगता है कि वे कार्तिक के विचार न होकर उन्हीं के अनुभवों से उपजे हुए विचार हैं। उपन्यास के केन्द्र में मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ हैं। संतोष जी का यह कार्य क्षेत्र है। जाहिर-सी बात है यहाँ की चीजें उनकी नजर से कैसे बच सकती थीं? सबसे मजेदार है, हरपाल त्यागी की उपन्यास में एंट्री। राजशेखर और हरपाल

त्यागी दोनों परजीवी हैं। दोनों कार्तिक की परियोजनाओं को समझते हैं और उनका अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करते हैं। यहाँ तक कि कार्तिक का सेफ्टी वॉल्व की तरह इस्तेमाल भी करते हैं। जहाँ उनकी योजना की विफलता दिखाई देती है, वहाँ उस विफलता को कार्तिक के माध्यम से वे ढँकना चाहते हैं। मामला उल्टा है– 'कार्तिक का मॉडल लोगों को मुक्त करता था। सरकार उन्हें नियंत्रित करना चाह रही थी।' कठिन शर्तों के साथ रखे गए टेण्डर को हासिल करना आसान काम नहीं था। उन सारी बातों को जानकर कार्तिक खुद भी परेशान था, क्योंकि उसे लगता था कि उसे कंसल्टेंट के तौर पर रखा जाएगा, लेकिन ऐसा नहीं होता है। जब उसे बताया गया कि ग्रामीण परिस्थितियों से भले परिचित न हों, लेकिन इन्टरनेशनल कंसलटेंट रखे जाएँगे जो पूरी दुनिया में काम करते हैं तो कार्तिक को यह समझ नहीं आया कि हमें खुद अपने गाँव को समझने के लिए क्यों इन्टरनेशनल कंसलटेंट की जरूरत पड़ती है? क्या हम खुद अपनी भाषा नहीं समझते? क्या हम अपनी जनता का मानस नहीं समझते? क्या हम अपने लोगों को साक्षर नहीं कर सकते? उनके प्राथमिक स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रख सकते? तो विश्व की तीसरी वैज्ञानिक शक्ति होने के हमारे दावे का क्या मतलब? उपन्यास पाठक को वास्तविकता के धरातल पर लाकर पटक देता है। पाठक इन स्थितियों में उपन्यास को छोड़ना नहीं चाहता। दो तिहाई उपन्यास खत्म होते-होते पाठक चाहता है कि इसे अब खत्म करके उठा जाए। जाहिर-सी बात है कि यह लेखक की ताकत होती है। मुझे लगता है, किसी भी रचना की ताकत उसकी पठनीयता होती है। अगर पढ़ने में बाधा है तो रचना चाहे जितने भी बड़े रचनाकार की हो और उसे चाहे जितना बड़ा पुरस्कार दे दिया गया हो, वह आम जन के लिए बेकार होती है। इस मामले में संतोष चौबे आश्चर्यचकित करते हैं। बेहद आधुनिक और उच्चवर्गीय सन्दर्भों का विषय उठाकर भी वे पाठक को समझाने में सफल होते हैं और उसे अपनी लेखनी से बाँधे रहते हैं। उपन्यास खत्म होते-होते पाठक उन सपनों के ब्लैक होल को समझ जाता है और स्पष्टत: इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कार्तिक जैसे लोग किस तरह से नौकरशाही के द्वारा इस्तेमाल किये जा रहे हैं। त्यागी का चरित्र उपन्यास में दिलचस्प है। वह आईएएस की नौकरी छोड़कर एनजीओ सेक्टर में आया हुआ आदमी है। उपन्यास में आईएएस की नौकरी में भी उसे एक भ्रष्ट अफसर के रूप में संकेतित किया गया है। त्यागी एनजीओ की दुनिया में अपने अलग तौर-तरीकों को अपना कर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है और इसमें सफल भी होता है। कार्तिक की परियोजनाओं से चुराए विचारों से ही वह कंसलटेंट के पद पर बैठ

जाता है और कार्तिक का हक मार देता है।

उपन्यास का एक पक्ष और है जो छत्तीसगढ़ से जुड़ा है। त्यागी की दुर्ग से शुरू हुई यात्रा गुरूर, धमतरी, चरामा, काँकेर, केशकाल, कोंडागाँव आदि से गुजरती है। उसके माध्यम से संतोष चौबे भाषा की समस्या को केन्द्र में लाकर रख देते हैं। कार्तिक स्पष्ट कहता है कि "दिल्ली में बैठकर यह समझ नहीं आता कि देश के 90% लोग अँग्रेजी नहीं बोलते। आप इनसे अँग्रेजी में बात करके देखिए, संवाद तत्काल रुक जाएगा, लेकिन हिन्दी में ऐसी कोई दिक्कत नहीं है।" उपन्यास आमजन की भाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित और स्थापित करता है। यह भी इसकी एक बड़ी देन है कि यह उपन्यास हिन्दी के पक्ष में खड़ा उपन्यास है। छत्तीसगढ़ के यात्रा वृत्तान्त में सबसे महत्वपूर्ण है, नक्सल समस्या को भी समझाने की कोशिश करना। कार्तिक स्पष्ट करता है– "असल में आज हम जिसे नक्सलवाद कहते हैं, वह चारू मजूमदार के समय से बहुत आगे आ चुका है। चारू मजूमदार ने जमींदारों के गोदामों पर हमला किया था कि उनके अनाज को गरीबों में बाँटा जा सके। वहाँ से लड़ाई ज्यादा बड़े संसाधनों तक पहुँच गयी है। अगर जल, जंगल और जमीन, जिन पर आदिवासी निर्भर करते हैं, को सरकार छीने तो उसे उनके जीवन की वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में भी सोचना चाहिए।" 'सलवा जुडूम' का भी सन्दर्भ उपन्यास में आता है। जाहिर-सी बात है– जल, जंगल, जमीन के मुद्दे को उठाकर संतोष चौबे बताना चाहते हैं कि ये चीजें किस तरह से आदिवासियों से नाभिनालबद्ध हैं और उनसे अगर आप उनको बेदखल करते हैं तो वैकल्पिक व्यवस्था अनिवार्य है। बिना वैकल्पिक व्यवस्था के यदि आप उनके हकों को छीन लेंगे तो वे आत्मरक्षा में कोई भी कदम उठाने के लिए बाध्य होंगे। सरकारी टेण्डर में कठिन इलाकों को चुनकर भी कार्तिक सफल होता है, लेकिन त्यागी लोगों को झूठी दिलासे देता है। राजशेखर भी यही काम करते हैं। त्यागी लोगों को समझाता है कि सरकारी काम में समय लगता है, लोग धीरज बनाये रखें और सफलता-असफलता को लेकर कहानी सुनाता है। लेकिन दिल्ली में बातें कुछ और होती हैं। वहाँ स्ट्रेटजी बनायी जाती है कि अपनी असफलता को कैसे छुपाया जाए, लोग अपनी आपसी प्रतिस्पर्धा में बने रहें और उन्हें समय मिल जाए। मन्त्री जी को वे ब्रीफ करते हैं और मन्त्री जी का कहना है कि वे प्रधानमन्त्री जी को इसके महत्व के बारे में बता चुके हैं।

धीरे-धीरे मामला बिगड़ जाता है। 12 घंटे सुविधा केन्द्रों के ऑनलाइन न रहने के तर्क पर उन पर पेनल्टी लगा दी जाती है। पीपीपी मॉडल का जिस व्यंग्यात्मक

तरीके से उपन्यास में बयान किया गया है और एक अनुपस्थित चरित्र राधेश्याम शर्मा का जिक्र जिस तरह होता है, वह महत्वपूर्ण है। अवस्थी कहता है कि 'पार्टनर दिस इज द बिगिनिंग ऑफ द एंड। यह तुम्हारे पीपीपी के खात्मे की शुरुआत है।' राधेश्याम ने जब सब कुछ जान लिया था तो उसने निर्णय लिया था कि अब परियोजना सीधे सरकार द्वारा यानी राधेश्याम शर्मा द्वारा संचालित की जाएगी। अवस्थी ने बताया कि वही अब कार्तिक के साथ होने वाला था। जिस तरह से अवस्थी के समय के लोग सड़क पर आ गए थे, वही हाल कार्तिक का भी सम्भव था। अवस्थी का बयान एक बार फिर पाठकों के सामने हकीकत रख देता है। वह कहता है कि 'तुम क्या समझते हो? सरकार कोई समाज-सेवा कर रही है? पार्टनर अब सरकार ही सबसे बड़ी कारपोरेट है। जनता का धन, उसकी मेहनत, उसकी ऊर्जा अन्ततः सरकार में या किसी बड़े कारपोरेट में समाहित हो जाती है। दोनों एक ही बात है।' लेखक जो कहना चाहता है वह एक तरह से अवस्थी के शब्दों के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है। कार्तिक के लोग भी काम करने के बजाय पेनल्टी से बचने के लिए लड़ते हुए दिखते हैं। अन्त में एम्पॉवर्ड कमेटी बनती है और वह भी पेनल्टी लगाने के निर्णय को सही ठहराती है। बस इतना कहती है कि क्योंकि गवर्नमेंट की ओर से अभी तक सेवाएँ नहीं दी जा सकती हैं इसलिए फिलहाल पेनल्टी ली नहीं जाएगी और यह भी कि क्योंकि केन्द्र अभी ऑनलाइन सेवाएँ नहीं दे रहे हैं, उन्हें किसी तरह का पेमेंट भी नहीं किया जाएगा। जाहिर-सी बात है कि यह सब कुछ खत्म करने की शुरुआत थी। निर्णय कुछ इस तरह था कि गवर्नमेंट ने अब खुद अपना स्पेशल परपज व्हीकल यानी खुद की कम्पनी बनाने का निर्णय लिया था जो खुद सारे सुविधा केन्द्रों का संचालन करने का काम करेगी। यह कार्तिक जैसे सर्विस प्रोवाइडर के लिए अन्तिम धक्का था। 10 साल के उनके काम के बाद जिसमें उनका तन, मन और धन तीनों लगे थे, उन्हें अन्तिम रूप से परियोजना से बाहर कर दिया गया था। सरकार ने अपनी असफलता का दायित्व भी उनके ऊपर डाल दिया था। सरकार अब लगभग मुफ्त में जनता द्वारा बनाया गया नेटवर्क हथियाने को तैयार थी। आगे चलकर गवर्नमेंट द्वारा स्थापित कम्पनी ने पूरा नेटवर्क हथिया लिया और कार्तिक जैसे लोगों को बाहर का रास्ता दिखा दिया। अब देशभर की लगभग एक लाख पंचायतों तक सरकार सीधे पहुँच सकती थी और मन्त्री जी उन तक सीधे कनेक्ट हो सकते थे। उन्होंने जल्दी ही अपनी कम्पनी को जो असल में प्राइवेट कम्पनी थी, सरकारी घोषित करवा लिया और हजारों करोड़ रुपए के बड़े-बड़े काम बिना किसी टेण्डर के सिर्फ नॉमिनेशन के

आधार पर लेने लगे। इसके खिलाफ कोई खबर भी नहीं छपी। अधिकांश सर्विस प्रोवाइडर पेनाल्टी से बचने के लिए कोर्ट चले गये, जो अन्ततः समय तथा पैसे की बर्बादी ही थी। यही वह समय था जब कार्तिक को सपने आना शुरू हुए थे। उसी सपने में वह उस विशालकाय मशीन को देखता है जो धमन-भट्टी की तरह है जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, उसके केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर पूँजी निकल रही है– सतत प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है। उसके देखते ही देखते वह मशीन एक ऑटोमेटन में बदल जाती है जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस ऑटोमेटन में खिंचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश, उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे, रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल जैसा कुछ था जो उन्हें सोख रहा था। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में ही परिवर्तित हो गयी और उसके दूसरी ओर क्या हो रहा था, यह दिखना बन्द हो गया।

उपन्यास नंदिता के माध्यम से एक समाधान भी दर्शाता है जब वह कहती है कि ''समाधान ब्लैक होल से दूर रहने में है। आप उससे इतना दूर रहें कि उसका गुरुत्वाकर्षण आपको प्रभावित न करे। समाधान वहाँ लौटने में है जहाँ हमें अच्छे सपने आते थे। जहाँ हम किसी भी तरह के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त थे। स्वतन्त्र थे। आखिर हमारी क्रिएटिविटी तो हमारे पास है, उसे हमसे कोई नहीं छीन सकता।'' यहाँ उपन्यास खुशी के साथ खत्म होता है। यह बताते हुए कि इंसान अगर अपनी रचनात्मकता पर भरोसा करे तो वह किन्हीं भी कठिन परिस्थितियों से निकल सकता है। यह सुखान्त व्यवस्था के विद्रूप को उजागर करते हुए रचनात्मकता को ऊपर रखता है और एक महत्वपूर्ण उपन्यास के रूप में हमारे सामने आता है।

❑

सपनों के अपहरण की दास्तान

अरविंद कुमार सिंह

युवा उद्यमी के स्वप्न, उत्साह और उसकी क्रियाशीलता को कोई भ्रष्ट व्यवस्था किस तरह नष्ट कर सकती है, उसकी सोच और उसकी सामाजिक योजनाओं का सरकारी तन्त्र द्वारा अपहरण कर किस तरह खुद श्रेय लेने की चालाकी की जाती है और वर्ल्ड बैंक से ग्रामीण विकास के नाम पर मिली करोड़ों की मदद, नेताओं-नौकरशाहों के बीच कैसे लूट का हिस्सा बनता है, सन्तोष चौबे के नये उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' में हम इसे देख सकते हैं। यहाँ स्वप्न युवा प्रतिभा की वह सोच है जो समाज के लिए कुछ नया कर दिखाने का हौसला लिये हुए है और ब्लैक होल उसकी इन्हीं आकांक्षाओं का अवरोध। दरअसल हमारी विद्रूप व्यवस्था किसी ब्लैक होल की तरह एक ऐसी अँधेरी, अन्तहीन सुरंग बन चुकी है, जहाँ मनुष्य के स्वप्न, हौसले, उसकी खुशियाँ, सम्वेदना और सामाजिक सरोकार, सब डूबते चले जाते हैं। इस ब्लैक होल ने पूरी दुनिया को अपनी तरफ खींचा है। जाहिर है, पूँजी, बाजार और वर्चस्व की होड़ में विश्व का चेहरा बदरंग हुआ है और मनुष्य का जीवन रसहीन।

कार्तिक और अभिषेक बैनर्जी गहरे दोस्त हैं। कार्तिक का काम है टेक्नॉलॉजी और अभिषेक रंगकर्म से जुड़ा है। संगीत में डूबना दोनों को पसन्द है। एक म्यूजिक कंसर्ट में उनकी मुलाकात हुई थी जो धीरे-धीरे गहरी दोस्ती में बदल गयी थी। अपने नाट्यदल के साथ किये गये विदेशी दौरे के कारण एक लम्बे अन्तराल के बाद अभिषेक की कार्तिक से मुलाकात होती है। उसे कार्तिक के व्यवहार में बदलाव नजर आता है। उत्साह से भरा अपने काम में लगा रहने वाला, सबको साथ लेकर चलने वाला कार्तिक, उसे परेशान और उखड़ा-उखड़ा दिखाई देता है। एक मित्र के नाते अभिषेक की चिन्ता बढ़ जाती है। वह कारण जानना चाहता है, किन्तु कार्तिक काफी टालमटोल के बाद खुलता है, ''यार! मैं एक सपने को लेकर बहुत

परेशान हूँ।'' अभिषेक को लगता है बाजार की उपभोक्ता संस्कृति ने मनुष्य की जरूरतों को जिस तरह बढ़ाया है और विज्ञापन की दुनिया ने उसे रंगीन बनाने में मदद की है, उसकी तरफ खिंचा हर आदमी आज परेशान है, शायद कार्तिक भी। कार्तिक को खुश देखने के लिए वह उसके साथ ठिठोली करता है। तब कार्तिक झिझकते हुए अपने उस सपने का खुलासा करता है जो दु:स्वप्न की तरह हर रोज उसका पीछा कर रहा होता है। ''हाँ, एक विशालकाय टीवी स्क्रीन जिसमें मुझे भारत सरकार के एक मन्त्री बैठे नजर आते हैं। वे बढ़-चढ़ कर डींगें हाँक रहे हैं, उन सब कामों का श्रेय ले रहे हैं, जो मैं जानता हूँ उन्होंने कभी किये नहीं और वह सुन्दर-सी टेलीविजन एंकर... वह उन्हें और डींगें हाँकने के लिए उत्तेजित कर रही है...।''

कार्तिक ने कहना जारी रखा– ''मन्त्रीजी के एक तरफ कंसल्टेंट त्यागी बैठा है और दूसरी ओर सेक्रेटरी राजशेखर। वे परियोजनाओं की रिपोर्ट्स रिलीज करते हैं, दोनों तरफ खड़े होकर बैनर पकड़ते हैं और मन्त्री जी की ओर एक प्रेमी-जैसी सहलाती निगाहों से ताकते रहते हैं। योजनाओं पर योजनाएँ ली जा रहीं हैं, टेण्डर पर टेण्डर लिये जा रहे हैं, दावे पर दावे किये जा रहे हैं जिनमें से अधिकतर झूठे हैं, पर कोई उनसे कुछ नहीं कहता। कभी-कभी कुछ नये चेहरे दृश्य में जुड़ जाते हैं पर ये तीनों बने रहते हैं– मन्त्री, त्यागी और राजशेखर...।''

''परफेक्ट! मुझे इसमें कुछ भी अजीब नहीं लगता। ये मंत्रियों, उनके सचिवों और उनके कंसल्टेंट्स का काम ही है...'' अभिषेक कहता है।

''अजीब ये है कि मैं अक्सर उस टेलीविजन स्क्रीन के भीतर घुस जाता हूँ, चलती प्रेस कान्फ्रेंस के बीच जाकर त्यागी का गला पकड़ लेता हूँ, कई बार राजशेखर के सामने टेबल पर बैठ जाता हूँ और उनसे पूछता हूँ कि उन सब वादों का क्या हुआ जो उन्होंने किये थे? मैं एंकर से पूछता हूँ कि आप चिल्ला-चिल्ला कर इतना झूठ क्यों बोल रही हैं? मन्त्री जी की सिक्योरिटी आ जाती है। एंकर और मन्त्री चीख-पुकार मचाने लगते हैं। राजशेखर चीखकर कहता है– 'इस देशद्रोही को बाहर निकालो।' मैं बाहर की ओर धकेला जाने लगता हूँ। प्रतिरोध करता हूँ। धक्का-मुक्की मच जाती है...।''

यह सच है कि इस व्यवस्था में बेईमान नेताओं और भ्रष्ट नौकरशाही का गठजोड़ हमेशा प्रभावशाली रहा है जो प्रतिभाशाली, ईमानदार युवा-चेतना के लिए कई बार अभिशाप बन जाता है, कार्तिक उसी अभिशाप का दंश झेल रहा है। दरअसल यह कार्तिक का ही दर्द और आक्रोश नहीं है, बल्कि उस जैसे उन तमाम

लोगों का है, जो किसी सामाजिक दायित्व-बोध से प्रेरित होकर कोई सपना देखते हैं, लेकिन आगे रास्ते उनके लिए अवरुद्ध मिलते हैं। कार्तिक के अनुभवों को सुनते और उसे लिखते हुए अभिषेक बैनर्जी को भी महसूस होता है कि मेहनत, ईमानदारी और उद्यम जैसे शब्द पुराने पड़ गये हैं। उनकी जगह चालाकी, कपट तथा धोखेबाजी ने ले ली है। उसे लगता है, यह तो आज के समय की जरूरी कथा है और इसे बहुतों तक पहुँचना चाहिए। आगे उसी के द्वारा व्यक्त होती है यह कार्तिक कथा– सपनों की दुनिया में ब्लैक होल।

कहानी दस साल पहले से शुरू होती है, जब कार्तिक की ख्याति एक सफल उद्यमी के रूप में देशभर में फैल चुकी थी। उसे भारतीय प्रबन्धन संस्थान में देश की कई प्रमुख संस्थाओं के साथ प्रजेंटेशन के लिए बुलाया गया था। विषय था– 'इंफर्मेशन टेक्नॉलॉजी की ताकत और ग्रामीण भारत।' चूँकि कार्तिक जमीन से जुड़ा हुआ था, उसके पास गाँव की समझ थी। गहरी लगन और सूझ-बूझ से उसने एक हजार से अधिक ग्रामीण सूचना-तकनीक केन्द्र स्थापित कर लिए थे। जाहिर है उसके पास अनुभवों की दुनिया थी। काम में आने वाली समस्याएँ, कम्प्यूटर तकनीक का भारतीय भाषाओं में विस्तार की जरूरत और प्रशिक्षण, इससे लोगों के फायदे और उनका रिस्पॉन्स बताने को बहुत कुछ था। कार्तिक के प्रजेंटेशन से हॉल में मौजूद लोगों को जहाँ रचनात्मक ऊर्जा मिलती है, वहीं तीन लोगों को अपनी राह निकलती दिखाई देती है, वे हैं– भारत सरकार के सूचना तकनीक विभाग के संयुक्त सचिव राजशेखर, वर्ल्ड बैंक के भारत प्रभारी रॉबर्ट्स ज्यार्ज और भारत में परियोजनाओं को मदद प्रदान करने वाली संस्था यू.एस.एड के कंसल्टेंट सुब्बा रेड्डी।

और सरकारी खेल यहीं से शुरू होता है। राजशेखर, कार्तिक के ग्रामीण मॉडल से प्रभावित तो होते हैं, लेकिन उनका इरादा उसे प्रोत्साहित करने और सरकारी अनुदान देकर उसके काम को विस्तार देने का नहीं होता, बल्कि उसके मॉडल को सरकारी योजना में तब्दील कर, वे खुद विभाग से वाहवाही लूटना चाहते हैं। वर्ल्ड बैंक से मिलने वाली मदद अपने चहेते दलालों की कंसल्टेंट कंपनियों को देकर खुद बड़ा हिस्सा हासिल करना चाहते हैं। इस मकसद से वे और उनकी टीम के लोग मांडू का दौरा करते हैं। वहाँ कार्तिक की सफलता की बारीकियों को समझते हैं। करीब छह महीने बाद कार्तिक को उड़ती–उड़ती यह खबर मिलती है कि भारत सरकार के आई.टी. विभाग ने देश-भर में एक लाख ग्रामीण 'सुविधा' केन्द्रों की स्थापना के लिए एक प्रोजेक्ट बनाकर वर्ल्ड बैंक को भेजा था जिसने

उसे पास कर दिया, अब जल्दी ही उसका क्रियान्वयन शुरू होगा। कार्तिक को दु:ख होता है कि उसके सारे विचारों, अनुभवों को लेकर उसके मॉडल की नकल पर परियोजना बना ली गयी और उसे इस प्रक्रिया में शामिल करने की जरूरत भी नहीं समझी गयी। उसे उम्मीद थी कि राजशेखर उसके काम और अनुभवों को महत्व देंगे और उसे कंसल्टेंट के रूप में साथ रखेंगे, लेकिन उसे इस बात से सन्तोष करना पड़ता है कि आखिर उसके काम का ही विस्तार हो रहा है, किन्तु सरकारी परियोजनाओं का अक्सर जो हश्र होता है वही यहाँ 'सुविधा केन्द्रों' का हुआ। यह योजना अपने शुरुआती टेण्डर से ही विवाद में आ गयी। कई तरह की कंडीशंस लगाकर छोटे-मोटे लोगों को जानबूझ कर बाहर करने की कोशिश की गयी थी। यह देखते हुए कार्तिक की टीम ने कठिन समझे जाने वाले क्षेत्रों के लिए टेण्डर भरा और तब ही उसे हासिल कर सकी, लेकिन सरकार की अव्यावहारिक नीतियों, उसकी अक्षमताओं और वादाखिलाफी के कारण सर्विस प्रोवाइडरों को फायदे की जगह आर्थिक नुकसान पहुँचने लगा। कार्तिक ही अपने तजुर्बे, परफेक्ट टीम और ऑफलाइन कामों के बल पर नुकसान से बचा हुआ था। केन्द्र समन्वयकों का गुस्सा बढ़ने लगा, वे समय और पैसा दोनों बर्बाद कर रहे थे। सरकार उनके बिलों का भुगतान न करने के बहाने ढूँढ़ रही थी। सरकार के पी.पी.पी. मॉडल ने उन्हें याचक बना दिया था। कई न्यायालय में गुहार लगा रहे थे। इसी समय मन्त्री जी का हस्तक्षेप होता है, सभी सर्विस प्रोवाइडरों को बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है, जिसमें कार्तिक भी शामिल है और उनके कामों को मन्त्री जी की कम्पनी को सौंप दिया जाता है और हजारों करोड़ रुपए के बड़े-बड़े काम बिना किसी टेण्डर के सिर्फ नॉमिनेशन के आधार पर होने लगते हैं। अपने 'अच्छे' काम के कारण राजशेखर को विभाग का सेक्रेटरी बना दिया गया और त्यागी को अगले पाँच साल तक के लिए एडवाइजर।

यही वह समय था जब कार्तिक को बुरे सपने आने शुरू हुए थे। अपने मॉडल के साथ सरकार के इस खेल से वह पहले से ही विक्षोभ से भरा हुआ था, अब उसका गुस्सा प्रतिरोध के रूप में उसके स्वप्न में भी पीछा करता। अपने एक सपने को जब वह अपनी टीम के साथ साझा करता है, ''मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है, जो धमन-भट्टी की तरह है जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है– सतत प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है। मेरे देखते ही देखते वह मशीन एक ऑटोमेटन में बदल

गयी जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस ऑटोमेटन में खिंचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे, रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल-जैसा कुछ था, जो उन्हें सोख रहा था। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में ही परिवर्तित हो गयी और उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है, ये दिखना बन्द हो गया...।'' तो टीम के सदस्य जो उसकी परेशानियों से परिचित थे, उसे इन सपनों से छुटकारा पाने का रास्ता भी सुझाते हैं। नंदिता उस ब्लैक होल से दूर रहने की सलाह देती है जो हर चीज को अपने अन्दर खींच लेता है। उसका कहना है कि समाधान वहाँ लौटने में है, जहाँ हमें अच्छे सपने आते हैं। जहाँ हम किसी भी तरह के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त थे, स्वतन्त्र थे। आखिर हमारी क्रिएटिविटी तो हमारे पास है, उसे हमसे कोई नहीं छीन सकता। दरअसल ब्लैक होल इस व्यवस्था का नकारात्मक पक्ष है, जिसके लिए नयी सोच, मानवीय मूल्यों, आदमी की मजबूत इच्छा-शक्ति, उसकी मेहनत और ईमानदारी का कोई महत्व नहीं है। नंदिता की सलाह है कि हम आजाद तरीके से अपने काम को आगे बढ़ा सकते हैं। टीम का मनोबल देख कार्तिक के आगे का कुहासा छँट जाता है और बुरे सपनों का आना भी बन्द हो जाता है। हालाँकि, सरकारी तन्त्र से मोह भंग होना किसी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए शुभ संकेत नहीं है।

यह उपन्यास नक्सलवादियों के प्रति बनी उस अवधारणा को भी खंडित करता है कि वे क्रूरता के ही पर्याय हैं। यहाँ मूल लड़ाई जल, जंगल और जमीन को लेकर है, जिन पर आदिवासी निर्भर करते हैं। सरकार अगर उसे छीने तो उसे उनके जीवन की वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में भी सोचना चाहिए। उनकी समस्याओं, मजबूरियों को कोई क्यों नहीं समझना चाहता, कुछ चरित्रों के माध्यम से यह सवाल यहाँ गहराई से उभरता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में सरकारी योजनाओं की विफलताओं को देखते हुए लेखक ने कार्तिक के द्वारा ग्रामीण विकास का जो मॉडल खड़ा किया है, वह उपन्यास की उपलब्धि है। जब देश में, खासकर गाँवों में, बड़ी बेरोजगारी हो और सरकारी नौकरियाँ न के बराबर हों, प्राइवेट सेक्टर में भी अवसर कम होते जा रहे हों, तब व्यक्तिगत स्तर पर रोजगार-उपार्जन ग्रामीण क्षेत्र की बड़ी जरूरत है। सामाजिक सरोकार से जुड़ी लेखक की यह सोच यहाँ गहराई से दिखाई देती है। वह युवा चेतना को स्वरोजगार के द्वारा आत्मनिर्भर बनने की दिशा में प्रेरित करता है, लेकिन

यही उपन्यास का कमजोर पक्ष भी बन गया है, क्योंकि अपनी बुनावट में यह सामाजिक-विकास कार्यक्रम का अपने अच्छे-बुरे परिणामों के साथ प्रचार-कथा जैसा रूप ले लेता है। भ्रष्ट व्यवस्था के प्रति कार्तिक का गुस्सा और प्रतिरोध, यहाँ घटनाओं एवं परस्पर संवादों के द्वारा व्यक्त न होकर उसके स्वप्न में मुखर होता है, इससे विरोध की सम्भावना को बल नहीं मिलता। उपन्यास के चरित्र और उनके संवादों में कई जगह लेखक की अपनी सोच घुली हुई होती है, जिसके कारण वे जमीनी यथार्थ से दूर बनावटी ज्यादा लगते हैं। भाषा और शिल्प को लेकर भी लेखक बहुत सजग नहीं दिखाई देता और जो रचना पाठक की संवेदना का विस्तार न कर सके, जाहिर है उसे महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

❑

सत्ता और व्यवस्था की चालाकियों को उघाड़ने वाला उपन्यास : सपनों की दुनिया में ब्लैक होल

अरुण होता

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' एक विरल उपन्यास है। विरल इस अर्थ में कि न तो यह किसी विमर्श पर आधारित उपन्यास है और न ही प्रेम, यौनिकता आदि के चित्रण के माध्यम से उपन्यास को रोचक बनाने का प्रयास हुआ है। महज कथा-कौशल से कथा की संरचना भी नहीं की गयी है। यह लीक से हटा हुआ उपन्यास है। आज के दौर में अधिकांश उपन्यास किसी न किसी विमर्श अथवा विचारधारा पर आधारित पहले से बनी बनायी अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में अर्थात् फार्मूले के आधार पर लिखे जा रहे हैं। फलस्वरूप, लेखक की सदाशयता के बावजूद उसकी रचना-प्रक्रिया बाधित होती परिलक्षित होती है। लेकिन 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' को विरल कथा-कृति से आख्यायित किया जा रहा है। यह इसलिए कि निहायत सीधी-सादी भाषा में इसके उपन्यासकार ने अपनी चिन्ता और सरोकार को बेहद प्रभावशाली ढंग से कथा के सूत्रों में पिरो कर अभिव्यक्त करने में कामयाबी हासिल की है। इस उपन्यास में एक सीधी-सपाट कथा के माध्यम से हमारे समय और समाज के या यूँ कहें कि सत्ता और व्यवस्था के मंसूबों, अन्तर्विरोधों, उनकी चालाकियों, विसंगतियों की परत-दर-परत को विश्वसनीय तरीके से उद्घाटित किया गया है। ऐसा कर पाना ऊपर से जितना सहज लगता है असल में उतना कठिन होता है। खुशी की बात है कि इस उपन्यास के पाठक को किसी दुरुहता या क्लिष्टता अथवा असहजता का सामना नहीं करना पड़ता है। अपनी पठनीयता के चलते उपन्यास से पाठक जुड़ते हुए रचनाकार की चिन्ता, चेतना, सरोकार और कथा-दृष्टि से परिचित भी होता जाता है।

शहर के प्रख्यात रंगकर्मी अभिषेक बैनर्जी द्वारा अपने मित्र कार्तिक की कथा को उपन्यास में नियोजित किया गया है। उपन्यास के शीर्षक पर ध्यान केन्द्रित करें

तो स्पष्ट होता है कि सपनों का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है तो ब्लैक होल भौतिकी शास्त्र से सम्बन्धित है। मनोविज्ञान की दुनिया में स्वप्न-सम्बन्धी तमाम अध्ययन हो चुके हैं तो ब्लैक होल को लेकर भौतिकी में अनेक शोध हो चुके हैं। लेकिन उपन्यास अपने पाठकों को मनोविज्ञान की ग्रंथियों और भौतिकी की दुर्बोध्यता से उलझाता नहीं है। जैसे, उपन्यास में लिखा गया है– ''सपने किसी व्यक्ति की अधूरी आकांक्षाओं का प्रतिफलन होते हैं। फ्रॉयड ने भी कहा था कि वे आपकी इच्छाओं और असुरक्षाओं को अपने तरीके से प्रतिबिम्बित करते हैं।'' (पृष्ठ-13) सामान्यतः व्यक्ति जिन इच्छाओं की सामाजिक मर्यादाओं की जागृत अवस्था में पूर्ति नहीं कर सकता, उनकी स्वप्न अवस्था में पूर्ति कर लेता है। स्वप्न में व्यक्ति जीवन की समस्याओं और अनुभवों में रहता है अर्थात् स्वप्न सार्थक होते हैं। सपनों का सम्बन्ध जीवन से होता है। व्यक्ति जो भी स्वप्न देखता है उन सबका सम्बन्ध उसके स्वानुभूत से होता है। स्वप्नदृष्टा कभी भी कोई भी स्वप्न ऐसा नहीं देखता जिसका सम्बन्ध उसके अपने व्यक्तिगत अनुभव से न होकर दूसरे के अनुभव से हो। दूसरे शब्दों में, स्वप्न आत्मगत होते हैं। इसके अतिरिक्त स्वप्न में जो पात्र दिखाई देते हैं या फिर अनुभव होते हैं उन सबका अर्थ केवल स्वप्नदृष्टा से सम्बन्धित होता है और इसके अतिरिक्त किसी अन्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार स्वप्नों का केन्द्र स्वप्नदृष्टा होता है। सपने काल्पनिक नहीं, सच होते हैं। मनुष्य अपने सपनों को सच करने के लिए प्रयास करता रहता है। कार्तिक के सपने भी उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुरूप है। अन्तर बस इतना है कि उसके सपने जितने उसके हैं, उससे कहीं अधिक उनके सम्बन्ध दूसरों के, ग्रामीण और कस्बाई समाज के व्यापक जन-जीवन के विकास से जुड़े हुए हैं। कहना न होगा कि ग्रामीण और कस्बाई शिक्षित बेरोजगार युवकों और लोगों के वृहत्तर समुदाय को स्वनिर्भर बनाने की दिशा से उसके सपने सरोकार रखते हैं। 'आत्मनिर्भर भारत' जो केवल एक नारा ही साबित हुआ है, कार्तिक उसे अमली जामा पहनाने के सपने देखता है। इससे उपन्यासकार की रचना-दृष्टि और जीवन-दृष्टि का भी सुन्दर परिचय मिल जाता है।

'सपनों की दुनिया का ब्लैक होल' भूमंडलीकरण के दौर में सपनों की दुनिया की हकीकत को बयाँ करता है। ग्रामीण और शहरी जीवन के त्रासद यथार्थ से लेकर महानगरीय जीवन की विडम्बनाओं तथा बाजारवाद के दुष्प्रभावों का अमानवीय चेहरा उजागर करता है। भूमंडलीकरण के दो लम्बे हाथ हैं– पूँजी और बाजार। इनमें अभिन्न सम्बन्ध है। ये परस्पर सम्बन्धित ही नहीं, सम्बद्ध भी हैं। आज

पूरा विश्व बाजार में तब्दील हो चुका है। बाजार ही विश्व बना हुआ है। बाजार में पूँजी के अनवरत तमाशे चलते रहते हैं। विज्ञापन के माध्यम से पूँजी लोगों को बाजार की ओर आकृष्ट करती है। भूमंडलीकरण ने हमारे यहाँ प्रचलित हाट-बाजार की अवधारणा को नेस्तनाबूत कर दिया और बाजार की नयी संकल्पना पेश कर दी है। आज के बाजार-तन्त्र ने सबसे पहले जो काम किया है, वह यह कि उसने व्यक्ति की बुद्धि और सोचने-समझने की शक्ति तथा उसकी विवेकशीलता को पंगु बनाकर रख दिया है। ऐसा तन्त्र रचा जाने लगा है कि व्यक्ति आँख मूँदकर बाजार पर विश्वास करे। वह यह समझे कि बाजार ही उसका सबसे बड़ा हितैषी है। उसके लिए, उसकी भलाई के लिए, उसके विकास के लिए सोचने-समझने और सबसे बढ़िया निर्णय लेने की जिम्मेदारी बाजार ने अपने कन्धे पर उठा ली है। हाँ, बस शर्त एक है कि वह बाजार से किसी तरह का कोई सवाल न करे। यह बाजार आपको सपने दिखाता ही नहीं, उन्हें सच करने का झूठा लोभ भी दिखाता है। संतोष चौबे का कथाकार बाजार की छद्मलीला से रू-ब-रू है और उसे अपने पाठकों के समक्ष उजागर भी करता है– ''यार आजकल ये मीडिया वालों ने 'अपनों के सपनों' से भयानक आतंकित कर रखा है। जब तक एक पर्टिकुलर ब्रांड की कार नहीं खरीदी, 'अपनों का सपना' पूरा नहीं होगा। सत्ताईस इन्च का टीवी नहीं लिया तो सपना अधूरा रह जायेगा। लाइफ इंश्योरेंस की फलाँ पॉलिसी नहीं खरीदी तो जीवन व्यर्थ हो जायेगा और वह रंगीन दानेदार कंडोम नहीं पहना तो 'अपनों के सपने' कभी पूरे नहीं होंगे और जब तक वे पूरे नहीं होते, आपको चैन से नहीं बैठना है। यहाँ तक कि बच्चों की पढ़ाई का सपना पूरा करने के लिए भी आपको कोई-न-कोई ऐप डाउनलोड करना पड़ेगा, नहीं तो 'प्रोग्रेस' नहीं होगी।'' (पृष्ठ-9) कथाकार ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से बाजार की कारगुजारियों को उघाड़ते हुए मनुष्य के जीवन में बाजार के वर्चस्व को भी प्रस्तुत किया है।

संतोष चौबे एक जागरूक कथाकार हैं। उन्हें पता है कि पूरी दुनिया में पूँजीवादी व्यवस्था का कैसा खेल खेला जा रहा है। इस खेल ने ''उद्योगपतियों को धनी और बैंकों को कंगाल'' बना दिया। इस खेल ने भारत-जैसे विकासशील राष्ट्र की कमर तोड़कर रख दी है। हमारे जीवन मूल्यों को बाजार मूल्य में तब्दील कर दिया। मेहनत, ईमानदारी और उद्यम की जगह चालाकी, कपट और धोखेबाजी ने हथिया ली। एक ओर गरीब किसान के महज सौ या दो सौ रुपए की ऋण मुआफी नहीं होती है तो दूसरी ओर किसी पूँजीपति के दस लाख करोड़ रुपए के कर्ज को 'राइट ऑफ' कर दिया जाता है अथवा कुछ पूँजीपति बैंकों के हजारों करोड़ रुपए लेकर

विदेश भाग जाते हैं। आर्थिक नीतियों के चलते गरीब दरिद्रता का शिकार हो रहा है और अमीर को कुबेर का खजाना हासिल हो रहा है। पूँजी की सत्ता के सामने राजनीतिक सत्ता लाचार, विवश और दयनीय बनी हुई है। आम जनता को लगता है कि राजनेता सर्वशक्तिमान हैं, लेकिन पूँजी के खेल के सामने वे कमजोर, निर्बल और शक्तिहीन बने रहते हैं। उपन्यास के नायक कार्तिक को इस खेल के बिन्दुओं का पूरा ज्ञान है।

एक सफल सामाजिक उद्यमी के रूप में परिचित होने वाले कार्तिक के माध्यम से लेखक ने देश के विकास में योजना, परियोजना और उनके सफल क्रियान्वयन में आने वाली बाधाओं को कथा-सूत्र में पिरोया है। आज कई स्वयंसेवी संस्थाओं के आर्थिक भ्रष्टाचार सामने आ चुके हैं। देशी-विदेशी अनुदानों का अपने वैयक्तिक जीवन को सुखी बनाने वाले दौर में संस्थाएँ प्रश्नों के घेरे में हैं। अनुदान प्राप्ति के लिए संस्थाओं के स्वत्वाधिकारी तमाम तिकड़में करते आ रहे हैं। नयी अर्थव्यवस्था ने परिवर्तनकामी क्रान्तिकारी युवा-वर्ग को लगभग पथभ्रष्ट कर दिया है। इस सन्दर्भ में संतोष चौबे की एक कविता 'कभी तो खत्म होगी परियोजना' की याद आती है। परियोजना के संयोजक जो समाज के समक्ष अधिकार के लिए लड़ाई का गुणगान करते हैं, वे अनुदान प्रदान करने वाली संस्थाओं के सामने घिघियाते रहते हैं। समाज के पिछड़े वर्ग के लोगों के उत्थान के लिए दावा करने वालों की सच्चाई कुछ और होती है। एक भ्रम तथा विभ्रम की स्थिति को बनाए रखने में वे अपनी मौजूदगी की सार्थकता समझते हैं। बहरहाल, उपर्युक्त कविता की कुछ पंक्तियाँ पढ़ी जा सकती हैं :

''क्रांति के स्वप्न को घेर लेंगी
परियोजनाएँ
और समय से टकराने की जबरदस्त ताकत
बदल जायेगी
किसी काले जादू के प्रभाव से
अपने को सुरक्षित
और सुरक्षित बनाने की कोशिश के रूप में।''

परन्तु इस उपन्यास में लेखक ने बताया है कि कैसे इस आशय के उलट हमारे तन्त्र और व्यवस्था में मौजूद अदूरदर्शिता, अनुभवहीनता, प्रचारधर्मिता, स्वार्थपरता, बेईमानी आदि के चलते पॉलिसी अथवा परियोजना पूरी तरह से नाकाम हो जाती है, जबकि लोकेल की जरूरतों को समझ कर बिना किसी अनुदान अथवा सामान्य

ऋण के आधार पर कार्तिक अपने सपने को, छोटे स्तर पर ही सही, साकार करने में बहुत हद तक कामयाब होता है। उसी के आइडियाज चुराकर सरकारी विभाग अपने आइडियाज के रूप में न केवल पेश करता है, बल्कि उसे बार-बार अवहेलित और अनपेक्षित होना पड़ता है।

ग्रामीण भारत के उत्थान में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका पर उच्चस्तरीय बैठकें आलीशान होटलों में अवश्य होती हैं। बड़ी-बड़ी योजनाओं के प्रारूप बनाने के लिए समितियाँ गठित होती हैं। लेकिन आधारभूत तत्वों को अनदेखा कर दिया जाता है। बिजली की आपूर्ति न होते हुए चौबीसों घंटे आई.टी. सेवा प्रदान करने का दावा हो अथवा जिन्हें प्रशिक्षित किया जाएगा, उनकी भाषा में सामग्री के अभाव आदि को पूरी तरह नजरअन्दाज कर दिया जाता है। लोगों को बिना शिक्षित किये सर्विस प्रोवाइडर बना देना आत्महन्ता कदम से कम नहीं होता। भारत सरकार के सूचना तकनीक विभाग के संयुक्त सचिव राजशेखर, सूचना तकनीक विभाग के सलाहकार डॉ. हरपाल त्यागी, वर्ल्ड बैंक के भारत प्रभारी, सूचना और प्रौद्योगिकी मन्त्री आदि के दुर्भावनापूर्ण आचरण से वर्ल्ड बैंक द्वारा अनुदानित दस हजार करोड़ की परियोजना का बुरा हश्र होता है। कार्तिक के वर्षों से सजाये सपने अधूरे रह जाते हैं। उसके विचार हाइजैक करके प्रोजेक्ट से उसे बाहर कर दिया जाता है। टेंडर की लीला चलती है। उसे प्रोजेक्ट का सलाहकार नियुक्त करना तो दूर की बात बिल्कुल अवांछित मान लिया जाता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उसका कथा-नायक भले आहत होता है, दुःखी होता है, अपने को पराजित समझता है, ठगा महसूस करता है, लेकिन टूटता नहीं। उपन्यासकार के शब्दों में– ''वह लम्बे समय तक अवसाद में रहने वाला व्यक्ति नहीं था। वह पॉजिटिव एक्शन द्वारा अवसाद से बाहर निकल आता। वह फिर कोई नया काम शुरू करता था और काम के आनन्द में डूब जाता था। इस तरह वह एक रचनात्मक वातावरण अपने आस-पास बनाये रखता था।'' (पृष्ठ- 82) वह बार-बार गिरकर भी सम्हलता है, अपने सपनों और जिजीविषा के बल पर अपने उद्यम में सफल होता है। बस्तर, कांकेर, जगदलपुर, दन्तेवाड़ा आदि तमाम स्थानों पर कार्तिक की टीम पूरी तरह से जुटी हुई थी। युवक-युवतियों को प्रशिक्षित कर, सेवा केन्द्र खुलवाकर मल्टीपर्पज सेवाएँ प्रदान करने की पहल कार्तिक ने ही की थी। नक्सल इलाका हो अथवा आदिवासी-बहुल क्षेत्र, कार्तिक ने सबसे पहले लोगों का विश्वास अर्जित किया और जब उन्हें इसका अहसास हो गया कि कार्तिक या उसकी टीम क्षेत्र का विकास चाहते हैं तो उन्होंने पूरा साथ देना शुरू किया।

ग्रामीण क्षेत्रों में सेवा केन्द्रों के परिचालन के मार्ग में आने वाली तमाम बाधाओं से कार्तिक न केवल परिचित है, बल्कि उन समस्याओं के समाधान हेतु वह प्रयासरत रहता है। उसकी दुनिया विकल्पहीनता की नहीं है, विकल्पों और सम्भावनाओं से भरपूर एक संसार है। मसलन, बिजली की तकलीफों के लिए सोलर पम्प का प्रयोग, कम्प्यूटर केन्द्रों के साथ पम्प और मोटर की मरम्मत का काम, हार्डवेयर मेंटेनेंस केन्द्रों में मेंटेनेंस के साथ-साथ शिक्षण-केन्द्र भी चलाना आदि। मजे की बात यह है कि स्थानीय जरूरतों के अनुसार स्थानीय लोगों से विचार सुनकर कार्तिक उसे अपनी योजना में शामिल करता है। लोगों के विचारों को खोलने और टीम बिल्डिंग के अद्भुत तरीकों को उसने किताबों से नहीं बल्कि विभिन्न स्थानीय समुदायों के बीच रहकर सीखा है– ''जितनी आँखें थीं, उतने सपने थे। पर सबसे अच्छी बात थी कि वे सभी स्थानीय जरूरतों से निकलते थे, अपने माता-पिता और परिवार की कठिनाइयों से जुड़े हुए थे और उन्हें सुलझाना चाहते थे।'' (पृष्ठ-46) इससे सिद्ध होता है कि कार्तिक के सपने केवल उसके अकेले के नहीं, पूरे क्षेत्र के थे। सामूहिक स्वप्न थे। दु:खद है कि हमारी लालफीताशाही अथवा योजना के निर्माता लोगों से दूर रहकर, बिना उन्हें जाने-समझे योजना का प्रारूप बनाते हैं। अगर कार्तिक-जैसे जमीन से जुड़े लोगों के प्रस्ताव अपने या सरकार के नाम पर चलाते भी हैं तो उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़-घटाव करके उसका सत्यानाश कर डालते हैं। विडम्बना यह है कि भारत के गाँवों को समझने के लिए सात समुंदर पार के कन्सल्टेंट नियुक्त किये जाते हैं। जिनके विकास की बात को ढोल-नगाड़े के सहारे खूब प्रचारित किया जाता है, करोड़ों रुपए के विज्ञापनों से प्रचार-प्रसार होते हैं, उन्हें दरकिनार कर दिया जाता है। टेंडर का खेल तो अलग होता ही है। बिना सामाजिक उद्यमिता को समझे पेनल्टी का उपबन्ध जोड़ना, सांस्कृतिक विविधता और जरूरतों को समझे बिना एक ही लाठी से सबको हाँकने वाला एग्रीमेंट, पॉलिसी डॉक्यूमेंट तैयार कर अपनी अज्ञनता का परिचय देना, आदि प्रसंगों के माध्यम से सत्ता के इंटेंट को सामने रखा गया है। दरअसल सत्ता चाहती है कि समस्याएँ बनी रहें। ऐसा हो तो उसे अपने स्वार्थ की रोटियाँ सेंकने में सहूलियत होती रहेगी।

उपन्यास में नक्सलवादी क्षेत्रों की समस्याओं के साथ विकास, सल्वा जुडूम, हिंसा आदि के सम्बन्ध में नक्सलियों के विचार को जिस सम्वाद शैली में पेश किया गया है उससे पाठकों को नये सिरे से सोचने और विचार-मन्थन करने की प्रेरणा मिलती है। तथाकथित सभ्य समाज उन्हें सुनना नहीं चाहता, अपनी राय

थोपना चाहता है। संतोष चौबे ने इस तथ्य की ओर भी पाठकों का ध्यानाकर्षण किया है। निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि उपन्यास के लक्ष्मैया वासम, किश्टैया कुडेम, भीमैया आदि के विचारों से गुजरने के बाद पाठक कुछ अधिक संवेदनशीलता के साथ नक्सलवाद की समस्या पर विचार करने में समर्थ होंगे। साथ ही, दशकों से सत्ता द्वारा प्रचारित इकतरफा बयान कितना असत्य है, इस ओर भी ध्यानाकर्षण होगा। खुशी की बात है कि इन समस्या-बहुल क्षेत्रों में भी कार्तिक अपने मिशन में कामयाब होता है। इसके मूल में उसका विश्वास, लोगों से जुड़ाव और उसकी निष्ठा की बड़ी भूमिका है।

उपन्यास के उत्तरार्द्ध में कार्तिक और उसके मित्र अवस्थी के लम्बे कथोपकथन से सत्ता और तन्त्र के काले कारनामे, विसंगतियों और विडम्बनाओं का पर्दाफाश किया गया है। साक्षरता आन्दोलन का एक परियोजना में बदल जाना, स्वयंसेवियों के हाथों से जिला कलेक्टरों के हाथ चले जाना, सरकारी बेईमानी से वर्ल्ड बैंक के लाखों करोड़ रुपए बर्बाद कर नेताओं और अधिकारियों के खाते में निजी सम्पत्ति की बढ़ोतरी होना आदि से हमारे समय के क्रूर यथार्थ का चित्र उभरता है। मसलन, आर्थिक-राजनीतिक यथार्थ को रूपायित करते हुए उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है–

''अब हमारे देश में कुछ 'प्राइवेट' इतने बड़े हो गये हैं कि वे सरकार के साथ खेल लें और जीत जायें। पर अधिकतर सरकार ही जीतती है।''

''पार्टनर अब सरकार ही सबसे बड़ी कॉर्पोरेट है। जनता का धन उसकी मेहनत, उसकी ऊर्जा अन्ततः सरकार में या किसी बड़े कॉर्पोरेट में ही समाहित हो जाती है। दोनों एक ही बात है।'' (पृष्ठ-114)

यदि सरकार कॉर्पोरेटी मानसिकता और संस्कृति का शिकार हो जाये तो अनुमान किया जा सकता है कि दुनिया के सबसे बड़े जनतन्त्र की दशा और दिशा क्या है। पीपीपी मॉडल पूरी तरह फ्लॉप होने के बाद सरकार खुद की कम्पनी बनाने का खतरनाक निर्णय लेती है। इससे सेवा प्रदाताओं को अन्तिम धक्का लगा। दशकों से तन-मन-धन लगाने वाले कार्तिक के लिए अब कुछ न बचा। इससे भी जो दुःखद रहा कि सरकार ने अपनी असफलता का ठीकरा कार्तिक के सिर फोड़ दिया। सरकार ने एक प्राइवेट कम्पनी को सरकारी कम्पनी बनाकर बिना टेंडर के हजारों करोड़ रुपए के बड़े-बड़े काम देना शुरू कर दिया। इसे मीडिया एक्सपोज करने ही वाला था कि सरकार ने अपना ब्रह्मास्त्र चला दिया। अर्थात् लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ भी ढह चुका। 'कर्मठ, निष्ठावान, दक्ष' राजशेखर और त्यागी को

यथायोग्य प्रमोशन मिला। सेवा प्रदाता पेनल्टी से बचने और अपने बकाया प्राप्य पाने के लिए कोर्ट के चक्कर लगाते हुए समय और धन की बर्बादी करते रहे।

उपर्युक्त स्थिति में कार्तिक को एक और सपना आता है। लेटेस्ट सपना। उस सपने को उसने अपने साथियों और सहयोगियों से साझा किया। एक विशालकाय मशीन में एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँव के जो किसी अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाते थे। उस मशीन में समूचा देश डाला जा रहा था, कच्चे माल के साथ पूँजी भी, लेकिन सब गायब। कथाकार के शब्दों में– ''इधर से हँसते-खेलते देश, उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे, रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल जैसा कुछ था जो उन्हें सोख लेता था।'' (पृष्ठ-130) ब्लैक होल स्पेस में वह जगह है जहाँ भौतिकी का कोई नियम काम नहीं करता। मतलब समय और स्थान का कोई मतलब नहीं है। इसके खिंचाव से कुछ भी नहीं बच सकता। प्रकाश भी यहाँ प्रवेश करने के बाद बाहर नहीं निकल पाता है। यह अपने ऊपर पड़ने वाले सारे प्रकाश को अवशोषित कर लेता है। यहाँ बस गुरुत्वाकर्षण और अन्धकार है। इसका गुरुत्वाकर्षण इतना शक्तिशाली होता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। आइंस्टीन बता चुके हैं कि किसी भी चीज का गुरुत्वाकर्षण स्पेस को उसके आस-पास लपेट देता है और उसे कर्व-जैसा आकार दे देता है। अत: जरूरी है कि ब्लैक होल से दूर रहा जाये ताकि उसके गुरुत्वाकर्षण से बचा जाये। सहयोगी नंदिता का सुझाव यह भी था कि ''समाधान वहाँ लौटने में है जहाँ अच्छे सपने आते थे। जहाँ हम किसी भी तरह के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त थे। स्वतन्त्र थे। आखिर हमारी क्रिएटिविटी तो हमारे पास है, उसे हमसे कोई नहीं छीन सकता।'' (पृष्ठ- 131) कहना न होगा कि सृजनशील मनुष्य से उसकी रचनात्मकता को कोई छीन नहीं सकता। इसी से नवसृजन होगा और त्यागी जैसे व्यक्ति-केन्द्रित, घोर स्वार्थी, मनुष्य-विरोधी, पराजय का स्वाद चखेंगे। कार्तिक-जैसे सर्जकों के बुरे स्वप्न त्यागी को आयेंगे और कार्तिक को अच्छे स्वप्न। अर्थात् सकारात्मक सोच, सृजनशील मन के सहारे मौलिक और उत्कृष्ट विचार जन्म लेंगे जहाँ मनुष्य-विरोधी शक्तियों की पराजय निश्चित है।

कथा साहित्य में औत्सुक्य को बनाये रखना एक बड़ी खूबी है। आगे की कथा को जानने की उत्सुकता पाठकों में बनाये रखना कथा-कृति का एक अपेक्षित गुण माना जाता है। इस उपन्यास में इसका निर्वहन हुआ है। लेकिन इस उपन्यास में निहित सम्वाद-योजना के माध्यम से कथानक को विकसित करने की कला

सर्वाधिक आकृष्ट करती है। यह कथाकार की सबसे बड़ी शक्ति है। ये सम्वाद अत्यन्त जीवन्त हैं और प्रभावी भी।

इस उपन्यास में मांडू के इतिहास, लोक प्रचलित कथा का बड़ी खूबसूरती के साथ समावेश करके उपन्यासकार ने इस कथाकृति को नया आयाम प्रदान किया है। महज हजार शब्द के लगभग खर्च कर कई शताब्दियों के इतिहास को कैसे प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है, इसे दीर्घ विवरणों से पाठकों को उकताने वाले कथाकार सीख सकते हैं। धार शहर की प्राचीन कथा को भी गाइड के माध्यम से बड़े रोचक ढंग से पेश किया गया है। कम से कम शब्दों में व्यापक जीवन-सन्दर्भ तथा समय और समाज के यथार्थ की परत-दर-परत को अंकित करने में संतोष जी, काशीनाथ सिंह की परम्परा का पालन करते हुए प्रतीत होते हैं। बहरहाल, भाषिक संप्रेषण में संतोष चौबे सफल प्रतीत होते हैं। एक ओर कथा को रोचकता मिलती है तो दूसरी ओर रचनाकार के कथा-सामर्थ्य का परिचय भी मिलता है। आलोच्य उपन्यास में हमारे समय की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के सुन्दर रेखाचित्र की रचनात्मक सम्वेदना का साक्षात्कार होता है।

निस्सन्देह कहा जा सकता है कि 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' संतोष चौबे के 'राग केदार', 'क्या पता कॉमरेड मोहन' और 'जल तरंग' के आगे का उपन्यास है। 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' कथाकार की ही नहीं, हिन्दी उपन्यास संसार की एक उल्लेखनीय औपन्यासिक कृति है।

❑

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल'

विकास, स्वातंत्र्योत्तर भारत और वस्तुस्थिति की कथा

महेश दर्पण

'राग केदार', 'क्या पता कामरेड मोहन' और 'जल तरंग' के उपरान्त वरिष्ठ कथाकार संतोष चौबे का यह चौथा उपन्यास है– 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल'। इसका पहला अध्याय उपन्यास की पूर्वपीठिका ही है। यहाँ पहले-पहल हमारी मुलाकात टेक्नोलॉजी से जुड़े कार्तिक और उसके रंगकर्मी मित्र अभिषेक बैनर्जी से होती है। कार्तिक की उदासी अभिषेक को परेशान करती है, जो दरअसल, अपने एक सपने को लेकर डिस्टर्ब है। दोनों के बीच हुए नाटकीय सम्वाद के बाद सच यह खुलता है कि सपना एक टेलीविजन स्क्रीन के बारे में है। इस सीन को गौर से पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि माजरा है क्या! यहाँ मन्त्री को डींगें हाँकते दिखाया गया है। उसके साथ बैठे सेक्रेटरी राजशेखर और कंसल्टेंट त्यागी चापलूसी में लगे हैं। कुल मिलाकर यह दृश्य झूठे दावे परोस रहा है। फेंटेसी यह क्रिएट की गई है कि आक्रोशित कार्तिक टीवी स्क्रीन में प्रवेश कर जाता है। वह एंकर को झूठा बताने लगता है जो एक सफल उद्यमी के लिए निषिद्ध है। यही कारण है कि कार्तिक को न सिर्फ देशद्रोही करार दिया जाता है, उसे बाहर किए जाने की बात भी होने लगती है। चल रहे दृश्य को बदलने की चाहत ही इस उपन्यास की मूल मंशा है। ऐसे में, अभिषेक कार्तिक को सपने से बाहर आने का आग्रह करता फ्रायड की बात याद दिलाता है– ''फ्रायड ने भी कहा था कि सपने आपकी इच्छाओं और असुरक्षाओं को अपने तरीके से प्रतिबिम्बित करते हैं। तुम ढूँढ़ो कि वह क्या चीज है जो तुम्हें परेशान कर रही है।'' वह कार्तिक के अनुभव से गुजरकर वह सब देखना-समझना चाहता है। यह एक तरह से उस परेशान करने वाली चीज की तलाश है।

सच पूछें, तो यह उपन्यास कार्तिक के अनुभवों पर आधारित, उसके मित्र

अभिषेक द्वारा रिपोर्ताज शैली में लिखी गई एक केस-स्टडी ही है। यह बताती है कि कार्तिक वही चरित्र है जो नौ बिन्दुओं के खेल से परिचित कराने वाला है। यह वही खेल है जिसने उद्योगपतियों को धनी और बैंकों को कंगाल बना दिया था। इस खेल में जन-धन को सकिंग मशीन खींचे ले रही थी। इसके लौटने की अब कोई उम्मीद न थी। कथा बताती है कि कार्तिक का सुझाया दसवाँ बिन्दु पुराना मान लिया गया था और मेहनत, ईमानदारी व उद्यम के स्थान पर चालाकी, कपट और धोखेबाजी आ बिराजी थी। जब अजय कालिया और नीरज सोनी जैसे लोग बैंकों के हजारों करोड़ लेकर भागे, तो आम जन को कार्तिक की बातों का सच समझ आया।

समकालीन यथार्थ से मुठभेड़ की इस कथा में कार्तिक की परेशानी शेयर करने का काम करता है अभिषेक। यह स्टडी बताती है कि दशक पूर्व ही कार्तिक की प्रतिष्ठा एक सामाजिक उद्यमी के तौर पर हो चुकी थी। 'इन्फॉर्मेशन टेक्नोलॉजी की ताकत और ग्रामीण भारत' पर बोलने के लिए उसे भारतीय प्रबन्धन संस्थान में आमन्त्रित किया गया था। वहाँ उसके द्वारा दिए गए वक्तव्य ने मूल मुद्दे तो उठाए ही, अपना विशेष प्रभाव भी छोड़ा। उसका विचार था कि कम्प्यूटर क्रान्ति को गाँवों तक जाना है, पर इसके लिए जरूरी है कि हम अपने गाँवों को समझें। इस सम्बोधन के दौरान उपस्थित श्रोताओं में सूचना तकनीक विभाग के संयुक्त सचिव राजशेखर, वर्ल्ड बैंक के प्रभारी रॉबर्ड ज्यॉर्ज और यूएसएड के कंसल्टेंट सुब्बा रेड्डी कार्तिक के कामों से बेतरह प्रभावित हुए हैं। राजशेखर अलग से मिलकर समझना चाहता है कार्तिक की बातें, तो उससे हुए सम्वाद में कार्तिक स्पष्ट करता है– सरकार को तलाश एक ग्रामीण मॉडल की है, पर वह सोच शहरों की तरह रही है। कम्प्यूटर तकनीक का विकास गाँवों तक करना है तो प्रशिक्षण हिन्दी और भारतीय भाषाओं के जरिए ही सम्भव है। अंग्रेजी में नहीं।

'आटोनोमस डेवलपमेंट' के लेखक रैफ कार्मेन का कहना याद आता है : ''विकास सम्बन्धी सिद्धान्तों और नीतियों का निर्माण अर्थशास्त्र के ही क्षेत्र का काम समझा जाता था। अर्थशास्त्र की एक नई शाखा ही बन गई– विकास का अर्थशास्त्र। लेकिन कुछ समय से इस पर प्रश्न चिह्न लगाये जाने लगे हैं और इसकी कुछ ऐसी भारी कमियाँ सामने आई हैं कि विकास को केवल आर्थिक विकास के रूप में न देखकर मानवीय, शैक्षिक, सांस्कृतिक और नैतिक परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक हो गया है।'' उपन्यास इस जरूरत को समझता है।

कार्तिक ने खुद कम्प्यूटर प्रशिक्षण का काम हिन्दी में शुरू किया है। वह

मल्टीपरपज सेन्टर बनाने की बात भी करता है। वह अपनी प्रेरणा एक मल्टीपरपज ढाबे को बताते हुए अपनी बात और स्पष्ट करता है। केन्द्रों के लिए सही लोकेशन वह कैसे समझ सका... आदि अनेक ऐसे सूत्र थे जिनसे उसकी योजना को समीचीन स्वरूप मिल सका। वह राजशेखर को संकेत करता है कि बातों से नहीं, फील्ड में पहुँचकर हमारी टीम से मिलकर ही आप वस्तुस्थिति समझ सकते हैं कि लोकजीवन से सीखकर विकास का मार्ग कैसे बनाया जा सकता है!

टीम से उसका मिलना मांडू के ब्रेन स्टॉर्मिंग सेशन में होता है। यह अनुभव बताता है कि इस तरह के सेशन कैसे अफसरी के बोझ से मुक्त करते हैं और स्थानीय इतिहास से जोड़ते हुए मनोरम वातावरण के साथ स्थानीय खान-पान, रहन-सहन से भी परिचित कराते हैं। खुले वातावरण में ग्रामीण सूचना तकनीक केन्द्रों की जानकारी देने वालों के बीच कार्तिक जैसे एक पुल की तरह है। वह कंडक्ट भी करता है और एनेलाइज भी। राजशेखर और उसके सहयोगी यहाँ समझ पाते हैं कि काम दरअसल सिर्फ कम्प्यूटर प्रशिक्षण तक ही समिति नहीं, स्थानीय डिमांड के हिसाब से नए कामों की शुरुआत से भी जुड़ा है। यही है मल्टीपरपजनेस। वह देखते हैं कि माइक्रो एंटरप्राइजेज कैसे खड़ी की जा सकती हैं! थोड़ी-सी पूँजी लगाकर कैसे इनसे अच्छी कमाई भी की जा सकती है!

सरकारी और गैर सरकारी आयोजनों का अन्तर इस प्रक्रिया में सहजता से खुलता जाता है। छोटेराम शास्त्री मांडू का दर्शन रोचक अन्दाज में कराते हुए उसके इतिहास-भूगोल से भी परिचित कराते हैं। बाज बहादुर और रूपमती की प्रेम-गाथा है तो इतिहास से वर्तमान में वापसी भी। फ्रीक आउट सेशन में सहभागियों के नवीन विचार और युक्तियाँ सामने हो आती हैं। यहाँ कोई पैथोलॉजी चेन खोलने की बात करता है तो कोई मेडिकल केयर सेन्टर या ग्रामीण स्पोर्ट्स एकेडमी। यहाँ मनोरंजन और काम साथ-साथ चलता है।

अपने ढंग से सम्वाद का आदी कार्तिक डॉक्टर कलाम की बात के बहाने (सपने वे नहीं होते जो सोई आँखों से देखे जाते हैं। असल सपने तो वे होते हैं जो जागी आँखों से देखे जाएँ) अपनी आँखों में पल रहे सपने को सामने करता है। बातों-बातों में अन्य नए सपने खुल रहे हैं। कम्प्यूटर ट्रेनिंग के साथ विविध प्रकार के काम करने की पेशकश सामने हो आती है। यहाँ युवाओं को स्कूल नेटवर्क के जरिए जोड़ने की बात गौरतलब है। कार्तिक इसका व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है– ''दोस्तो, मेरा सपना आप सबके सपनों को मिलाकर बनता है। सोचिए कि हमारे देश में दो लाख पचास हजार पंचायतें और सात लाख गाँव हैं। अगर हर

पंचायत में आपके जैसा एक उद्यमी और एक उद्यम खड़ा हो जाए तो क्या देश की काया-पलट नहीं हो जाएगी!''

राजशेखर भी इस अनुभव से सीखकर जाने की बात करते हुए स्थानीय प्रयोगों को बड़ा आकार देने का संकेत करता है। सपनों की आवाजाही उपन्यास में चलती रहती है। यहाँ तक कि राजशेखर को भी ऐतिहासिक गाथा सुनकर एक बड़े ऐतिहासिक कालखंड का स्वप्न आ जाता है। उसका सपना सुनकर अर्थ खोलता है कार्तिक– ''इस सपने का अर्थ है कि हमें मांडू में एक कम्प्यूटर केन्द्र स्थापित करना चाहिए।'' राजशेखर भी देश भर में यह मॉडल लागू करने का वादा करता है।

कथा का यह रूप एक आदर्श स्थिति की कल्पना कराने जरूर लगता है, पर प्रश्न उठता है हमारी नीयत का। क्या हम सच में वही करते हैं, जो हम कहते हैं! क्या है हमारे देश के ब्यूरोक्रेट का चरित्र? जगह बदलते ही कैसे वह अपना सार्वजनिक मुखौटा उतार फेंकता है। राजशेखर के पूछने पर कि सर, क्या हम लोगों की बैठकें आगे भी इसी तरह से होंगी? उसका जवाब है– ''अनफॉर्च्युनेटली, नो। सरकार टेंडर और एग्रीमेन्ट पर चलती है। हम इस अनुभव से उतना ही लेंगे जितना हम लेना चाहते हैं।''

बहुत अधिक भाषा व्यय न करते हुए रचनाकार यहाँ खल चरित्र का पर्दाफाश सम्वादों के बीच ही कर देता है। पर यह सार्वजनिक सच है। आम धारणा तो कुछ और ही है। विभ्रम और यथार्थ के बीच डूबते-उतराते कार्तिक का मोहभंग तब होता है, जब उसे राजशेखर दिल्ली आमन्त्रित कर औपचारिक मीटिंग में ऐसे सवालों के घेरे में डाल देता है जिनमें जिज्ञासा कम और शंका अधिक है। इन सवालों के मूल में यह जानना बैठा था कि आपने एक हजार केन्द्र बिना सरकारी मदद के बना कैसे लिए?

यह प्रश्नोत्तर सेशन दो तरह के विचार की समीक्षा करता नजर आया। कार्तिक के उत्तर से तस्वीर यह साफ होती है कि ''पहले पैसा फिर विचार, एक गलतफहमी है। विचार अच्छा हो तो पैसा अपने आप आता है।'' कार्तिक अपने मॉडल से सन्तुष्टि और उसके ठोस आधार के महत्व को रेखांकित करता है। उसकी दृष्टि में ठोस आधार हैं– हिन्दी में काम-काज, नोडल प्वाइंट पर केन्द्र स्थापना और मल्टीपरपजनेस यह सब हो, तो फिर सब सहजता से होता जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में पैसा तो है, पर लोग उसे सही जगह लगाना चाहते हैं। दोस्ताना भारतीय मॉडल उन्हें अपनाने योग्य लगता है। ऐसे में बैंकों की मदद भी उल्लेखनीय

है। वह बताता है कि व्यावहारिक और सस्टेनेबल होने के कारण सिस्टम आगे बढ़ रहा है।

कार्तिक को औपचारिक महत्व देने के बाद यह संकेत दिया गया कि उसके विचारों को एक बड़ी परियोजना का रूप देते हुए उसे उल्लेखनीय बनाया जाएगा। ऐसे में खुश होकर उसका उम्मीद भरे सपने देखना स्वाभाविक था। इन सपनों में वह कहीं भी पहुँच जाता। युवा उसे आदर्श मान घेर लेते। वह देखता कि उसकी लोक-छवि उज्ज्वलतर हो रही है। इन सपनों के मध्य असलियत यह है कि उसे राजशेखर के पत्र की प्रतीक्षा है। बगैर उसके ये सपने हकीकत में नहीं बदल सकते।

कहना जरूरी है कि यहाँ से उपन्यास पाठक के मन में अपनी पकड़ मजबूत कर लेता है। कथा चुपके से कहती है कि सपने ही क्या, जो पूरे हो जाएँ! एक ओर वर्ल्ड बैंक से ग्रामीण सुविधा केन्द्रों की स्थापना के प्रोजेक्ट को मन्जूरी मिल गई है और दूसरी ओर इस समूची प्रक्रिया में कार्तिक के लिए कोई स्थान ही नहीं छोड़ा गया। पॉवर जिनके हाथों में है, वे सब कुछ अपनी मर्जी से चलाना चाहते हैं। राजशेखर का कॉल कार्तिक को आहत करने वाला है। वह ऊहापोह के बीच ही है कि उसका मित्र अवस्थी उसे बैठक में जाने को प्रोत्साहित करता है। आखिर यह बैठक उसी के शहर के उद्यमियों के साथ हो रही है!

सूचनाएँ उपन्यास में तनाव और गति लाती हैं। एक सूचना आई है कि भारत शासन के एक लाख ग्रामीण सुविधा केन्द्र आई.टी. विभाग खोल रहा है। डॉ. त्यागी के साथ कार्तिक के शहर के उद्यमी अपनी चर्चा में कार्तिक के लिए एक बड़ी हैरानी पैदा कर रहे हैं क्योंकि वहाँ उसी की परियोजना को एकदम नया बताकर टेक्नोलॉजी का विस्तार करने वाला बताया जा रहा है। जताया जाता है कि देश के सबसे बड़े नेता के बाद विभाग के लोगों में इसे लेकर जबर्दस्त उत्साह बना हुआ है। पूरा श्रेय भारत सरकार को दिया जा रहा है। किन्तु जब सवाल-जवाब के दौरान व्यावहारिक पक्ष पर त्यागी खुद को कमजोर पाता देखता है, तो कार्तिक को ढाल की तरह इस्तेमाल कर लिया जाता है। पायलट का जिक्र आया, तो भी उसी के प्रयोग की चर्चा की जाने लगी, जैसे उसका आधार भी सरकारी हो। सावधानी यह बरती गई कि कहीं कार्तिक को अतिरिक्त तवज्जो न मिल जाए! माहौल बिगड़ता नजर आया तो त्यागी ने पीपीपी (अर्थात पब्लिक, प्राइवेट, पार्टनरशिप) का लालची जाल फेंक दिया।

सामान्य उद्यमी इस संजाल में भले ही फँसते नजर आए हों, किन्तु कार्तिक

प्रश्नों से जूझ रहा है– ''हिन्दी में काम करते हुए प्रशिक्षण देना और बात है पर हवा में सेवा केन्द्र खड़े करने की बात करना नाइन्साफी है।'' वह जानता है कि ग्राउंड रियलिटी एकदम भिन्न है। उस जैसे स्थानीय को शामिल करने के पीछे भी चाल यह है कि वही स्थानीय आक्रोश को झेलता रहे और सरकार व आम जन के मध्य बफर का काम करता रहे! वह कहीं त्यागी की चालों की चतुराई समझ भी रहा है और अपने व सरकारी मॉडल के मूलभूत अन्तर को पहचान भी रहा है। स्थानीय उद्यमियों की तय करने की भूमिका सरकारी मॉडल में नगण्य है। यहाँ ऑफलाइन सेवाओं की तो बात ही नहीं की जा रही थी।

उपन्यास में सर्वाधिक ध्यातव्य वह पक्ष है जहाँ कार्तिक और युवा उद्यमियों के मध्य योजना के व्यावहारिक पक्ष पर क्रमवार जरूरी बातें आती हैं। वर्ल्ड बैंक के रॉबर्ट्स कार्तिक को अपनी मछली बनाने की नीयत से इस सम्वाद के बाद ही वाशिंगटन आने का न्यौता देते हैं, वह यह नहीं जानते कि कार्तिक का तो विकास ही वर्ल्ड बैंक और डंकल प्रस्तावों के विरोध के बीच हुआ है। यह दीगर बात है कि कार्तिक के अजाने ही योजना अप्रूव हो गई थी, लेकिन लाँचिंग के वक्त संकट की घड़ी में उसे आगे कर दिया गया। आखिर लोगों के सवालों के जवाब भी तो देने थे।

यही संकेत देता है उपन्यास। कार्तिक का समूचा उम्मीद भरा भ्रम तब टूट कर बिखर जाता है जब उसे कंसल्टेंट के तौर पर रखने के बजाय राजशेखर टेंडर निकलने पर पार्टिसिपेट करने को कह देता है। यही नहीं, वह कार्तिक को यह भी जता देता है कि उसके आइडिया का कोई पेटेंट तो है नहीं! अब यह समूचा प्रोजेक्ट भारत सरकार का ही है। जाहिर है, ऐसे में इन्टरनेशनल कंसल्टेंट ही कमान सँभालेंगे, भले ही उन्हें भारतीय ग्रामीण परिस्थितियों की कोई जानकारी न हो। बगैर शोर मचाए उपन्यास टाइम, स्पेस और सिचुएशन के महत्व को रेखांकित करना चाहता है। कार्तिक खूब समझ रहा है कि सरकारी अधिकारी भ्रम खड़े कर रहे हैं। इनके लक्ष्य स्पष्ट नहीं और सेवाएँ इनके पास हैं नहीं। इल्यूजन एंड रियलिटी के बीच की उलझन इस कथा समय की धुंध में पसरी है।

उपन्यास अब अपने अनुमानित मोड़ पर आ पहुँचता है, जब वर्ल्ड बैंक के कंसल्टेंट ने समूची योजना को अव्यावहारिक बना कर रख दिया। वह उसे इंफ्रास्ट्रक्चर का ही प्रोजेक्ट समझ बैठा। टर्नओवर और बैंक गारंटी की योजनाओं ने सब गड़बड़ करके रख दिया है। रही-सही कसर पैनल्टी क्लॉज ने पूरी कर दी। मदद करने के बजाय, यह मदद न देने का टेंडर साबित हुआ है।

उपन्यास की कथा बहुत साफ संकेत करती है कि भारत की विविधता को समझना विकास की किसी भी योजना के लिए जरूरी है। यदि आप भाषा, संस्कृति, स्थानीयता, शैक्षिक स्तर का फर्क समझे बगैर पंचायतों पर नियन्त्रण की जल्दबाजी दिखाएँगे, तो परियोजना की विफलता का खतरा बढ़ेगा ही। किसी भी मॉडल को समग्रता से समझकर ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए। विपरीत स्थितियों में भी कार्तिक की टीम की रणनीति की कामयाबी की वजह उसके कंटेंट की ताकत और उसका हिन्दी में होना ही है। यही उसकी ट्रेनिंग का आधार बनता है। कार्तिक की टीम योजना से भागने की जगह अपना रास्ता बनाने पर यकीन रखती है। वह कठिन क्षेत्रों में सायास टेंडर अर्जित कर, सरकारी सेवाओं की प्रतीक्षा न कर; अपने स्तर पर सफल होकर दिखाती है। यही कारण है कि त्यागी को एक बार फिर कार्तिक की शरण में जाने को विवश होना पड़ता है।

उपन्यास में सर्वाधिक प्रभावी और सार्थक चरित्र कार्तिक का ही है। उसका पूरा ध्यान अपने काम और उसकी सफलता पर केन्द्रित रहता है। वह अपने मॉडल को हाइजैक कर लिए जाने के बावजूद लम्बे समय तक अवसाद में नहीं रहता। उसकी पॉजिटिव सोच और रचनात्मक सक्रियता उसे बाहर निकाल लेती है। बस्तर उसे सरलता और सादगी के कारण आकर्षित करता है।

वहाँ के बच्चे कम्प्यूटर के बारे में कुछ भी नहीं जानते। उससे उन्हें परिचित कराने हेतु कार्तिक की आईटी यात्राएँ कारगर साबित होती हैं। इससे युवाओं के बीच सेन्टर खोलने की प्रेरणा पहुँचती है। स्थानीय स्तर पर अनेक कार्यों से आय के नए स्रोत भी खुलते हैं। साफ है कि कार्तिक ऑफलाइन बहुत कुछ करने-कराने में यकीन रखता है। उसकी सफलता ही उसके प्रति ब्यूरोक्रेसी को झुकने को विवश करती है। त्यागी ऐसे में अपना दूसरा चेहरा लिए उसका काम फील्ड में देखने आता है। कार्तिक का श्रम ही है, जो हर केन्द्र में उसकी सफलता के दर्शन कराता है। स्थानीय स्तर पर उसका सम्मान देखकर त्यागी हतप्रभ है। दरअसल, कार्तिक सामाजिक परम्परा को साथ लेकर चलने वाला तो है ही, शिक्षा के महत्व को भी खूब समझता है। वह लड़कियों की शिक्षा पर बल देता है तो आधुनिक तकनीक से युक्त वैन भी हर क्षेत्र में मुहैया कराता है। उसके काम करने के तरीके को देखकर ही त्यागी को एहसास होता है कि सरकार कुछ भी नहीं कर रही। सिर्फ योजना बना लेने से कुछ नहीं हो जाता। कथा हमारे विकास के सरकारी मॉडल पर सवाल उठाती है। बावजूद इसके, वह एक कुटिल चाल यह सोचता है कि अब समूची स्ट्रेटेजी ही बदल दी जाए।

अपने हिसाब से जोड़-तोड़ कर लेने का आदी त्यागी लेफ्ट विंग एक्स्ट्रीमिस्ट कहे जाने वाले क्षेत्र में घबरा जाता है। उसे उनकी समान्तर सत्ता देखकर हैरानी होती है। लक्ष्मैया वासम उसे समझाता है कि विकास-योजनाओं में स्थानीयों को शामिल न किए जाने का विरोध तो यहाँ है ही, पारम्परिक कामों को खत्म कर अगर उनकी जमीन पर प्रोजेक्ट लगाए जाएँगे तो स्थानीय विरोध स्वाभाविक है। आखिर इनसे प्रकृति को नुकसान भी तो हो रहा है। दूषित पानी से बीमारी का खतरा और बढ़ा है। जिस जल, जंगल, जमीन पर आदिवासी निर्भर हैं, सरकार वही छीन लेगी तो लोग खामोश क्यों रहेंगे? विरोध के अनेक कारण हैं, इनमें स्थानीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था को खत्म कर ग्राम सभाएँ स्थापित की गईं तो काम करने का तरीका ही बदल गया। ग्राम सभा को सरकारी अधिकारी मैनुपुलेट करने लगे। जाहिर है, इस सब में निरक्षरता का लाभ अलग उठाया जा सकता है।

अरुण कुमार जैसे अर्थशास्त्री इसीलिए आज बाजारवाद से उत्पन्न एक संकट यह भी देखते हैं कि राज्य का चरित्र बदल गया है : ''अब वह 'कल्याणकारी राज्य' न रहकर पूँजीपतियों के प्रति पक्षपात करने वाला या उनकी ही सेवा करने वाला राज्य बन गया है। गरीबों को रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ आदि देने की चिन्ता करना तो दूर, बड़े उद्योगपतियों के कारखानों और 'सेजों' (विशेष आर्थिक क्षेत्रों) आदि के लिए गरीब किसानों की करोड़ों एकड़ जमीन ले ली जाती है और कौड़ियों के मोल देशी-विदेशी पूँजीपतियों को दे दी जाती है।''

उपन्यास सलवा जुडूम की कलई भी खोलता है कि कैसे सरकार ने आदिवासियों के बीच से ही कुछ को नौकरी का प्रलोभन देकर लाठी-डंडे पकड़ा दिए ताकि नक्सली सपोर्ट समाप्त किया जा सके। वस्तुस्थिति यह है कि आम जन तो सोनी मारकम की तरह नक्सलियों से भी परेशान है और पुलिस से भी। अच्छी बात यह है कि उपन्यास हिंसा का ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय फैक्टर का विरोध भी कायदे से पकड़ता है। सीधा सवाल करता है कि आपके विकास की अवधारणा है क्या? साफ है कि रचनाकार को स्थानीय लोगों की भागीदारी के बगैर किसी भी योजना की सफलता संदिग्ध ठीक ही लगती है। यही कारण रहा कि नवाचार के बल पर नई सेवाएँ कर, ग्रामीण स्तर पर कम्प्यूटर केन्द्र संचालन कर कार्तिक के युवा उद्यमियों ने रचनात्मकता का परिचय दिया। दुर्ग से जगदलपुर तक के केन्द्रों का काम देखकर त्यागी प्रभावित हुआ। उसने अपने भाषणों में इस सबकी प्रशंसा भी की, किन्तु कहीं भारत सरकार द्वारा दी जाने वाली सेवाओं का उल्लेख

तक नहीं किया। कार्तिक यही सोचकर हैरान है कि फिर सरकार का योगदान है क्या? सवाल–जवाब सेशन में भी उसने गौर किया कि त्यागी उलझन में रहकर भी जवाबों को टाल देता है और मन्त्री के सम्बोधन के बाद फौरन दिल्ली प्रस्थान कर जाता है।

उसका इस बार भी दिल्ली लौटना एक नए चेहरे के साथ है। वह स्ट्रेटेजिस्ट राजशेखर को सारी असलियत बयान कर देता है। उसके साथ उसका सम्वाद वस्तुस्थिति को सामने रखने वाला है। इससे साफ है कि सरकार के पास फिलहाल देने को कुछ नहीं और दो साल तक सरकार की ओर से कोई सर्विस रोल–आउट नहीं हो सकेगा। ऐसे में शातिर राजशेखर चाल यह खेलता है कि कार्तिक जितनी ऑफलाइन सर्विसेज दे रहा है, उसके मैन्युअल बनवा लिए जाएँ। कार्तिक को प्रेजेंटेशन के लिए बुलाया जाए। तब कहेंगे कि ये सेवाएँ हमने ही तैयार की हैं। इन्हें सभी सेन्टर दे सकते हैं। कार्तिक के साथ यह एक बड़ा छल है। उपन्यास खूबसूरत तरीके से यह बताता है कि ब्यूरोक्रेसी कैसे दूसरे के दम पर वाहवाही लूट ले जाती है। उसे किसी भी प्रकार बस सरकार का हित साधना है। राजशेखर का सम्वाद इस तथ्य को और पुख्ता करता है– ''देखिए, हमें किसी भी हालत में इस प्रोजेक्ट को सफल बनाना है। मैं प्रधानमन्त्री को इसके महत्व के बारे में बता चुका हूँ। यदि ये सफल हुआ तो सरकार की पहुँच सीधे एक लाख पंचायतों तक हो जाएगी। आप जो भी ठीक समझें, करें पर इसे फेल मत होने दीजिएगा।''

त्यागी कार्तिक को कार्यशाला में निमन्त्रित करता है। कार्तिक का ऊहापोह चरम पर है। वह जाएगा तो फिर उसके विचार हाईजैक कर लिए जाएँगे। उसके मित्र अवस्थी के साथ हुआ उसका सम्वाद आँखें खोलने वाला है। अवस्थी की दृष्टि में यह अन्त का आरम्भ है। पीपीपी के खात्मे की शुरुआत। वह त्यागी की असलियत कार्तिक के समक्ष रख देता है। उसे याद हो आई है राधेश्याम शर्मा से मिले उस अनुभव की जिसमें समूचे शिक्षा अभियान की जानकारी हासिल कर, छल से उसे एक सरकारी योजना में तब्दील कर दिया गया था। इसके बाद कैसे सरकार की एक परियोजना साक्षरता आन्दोलन के आधार पर उठ खड़ी हुई।

उपन्यास बगैर किसी लाग–लपेट के यह कहता है कि सरकार की नजर हरदम जनता के रचनात्मक प्रयोगों पर रहती है। चूँकि पीपीपी में बड़ी पार्टनर सरकार ही होती है, इसलिए जीत उसी की होती है। अब परिदृश्य बदल रहा है। प्राइवेट भी सरकार पर हावी हो रहे हैं। यही कारण है कि सरकार तक किसी कार्पोरेट में समाहित हो जाती है। यही कारण है कि अवस्थी कार्तिक को नया विचार विकसित

कर लेने का परामर्श देता है, ताकि उसे अलग होने में दिक्कत न हो। जाहिर है, कार्तिक भी इससे सहमत है।

पाठक उपन्यास की चाल के लिहाज से अन्त का अनुमान सहज ही लगा सकता है, फिर भी संतोष चौबे के कथाकार की यह विशेषता है कि पढ़ने वाला जिज्ञासु की तरह उपन्यास की घटनाओं के साथ आगे बढ़ता जाता है। पच्चीसवें अध्याय में दिल्ली में हुई बैठक में पहुँचे सर्विस प्रोवाइडर हैरान हैं। उनमें हताशा है सरकारी सेवाएँ न मिल पाने के कारण। यहाँ तक कि बात मुकदमे तक आ पहुँची है। यह त्यागी का शब्दजाल और चतुरता ही है कि वह सुविधा केन्द्रों की परिकल्पना को सही बताता है। वह अनायास कार्तिक से अनुभव सुनाने को कह देता है। ऐसे में कार्तिक को सकारात्मक बातें करते हुए कहना पड़ता है कि जिन क्षेत्रों में काम करें, वहाँ के लोगों को टेक्नोलॉजी के बारे में शिक्षित करें। वह ऑफलाइन सेवाओं को अपनाने की बात करता है। पर श्रोता जानना चाहते हैं कि सरकार आखिर कर क्या रही है?

ऐसे जटिल अवसरों का सामना सरकारी अधिकारी त्यागी की तरह, जनता को उसी के प्रयोग समर्पित करके कर लेते हैं। कार्तिक के सुविधा केन्द्रों के मैन्युअल उसने भारत सरकार की सेवाएँ कहकर बँटवा दिए। यह भ्रम भी प्रसारित कर दिया कि बाकी सेवाएँ भी जल्द ही दी जाएँगी। कार्तिक को ढाल बनाकर वह अपनी लीडरशिप बरकरार रखता है। इस पूरे घटनाक्रम पर अवस्थी की पैनी नजर बनी हुई है। उपन्यास में अब कार्तिक के लिए फिर सपनों का समय है। यह एक विचित्र फेंटेसी है जिसमें अजानी जगहों में वह खाली जेब घूम रहा है। अन्तहीन भटकाव है यह। ऐसी परीक्षा जिसमें निर्धारित प्रश्न-पत्र ही न आया हो। कार्तिक की असुरक्षा प्रदर्शित करते ये सपने जैसे उसमें आक्रोश बढ़ा रहे हैं। सुखद यह है कि यह आक्रोश कार्तिक तक सीमित न रहकर आगे भी संचारित होता है। कार्तिक समझ गया है कि सरकार के पास देने को कुछ नहीं है। एग्रीमेन्ट की भाषा ही ऐसी रहती है कि सरकार का पक्ष प्रबल रहता है। 12 घंटे ऑनलाइन न रहने पर केन्द्रों पर पैनल्टी का प्रावधान विपरीत परिस्थितियों में अव्यावहारिक है। सरकार को पहले यह ध्यान देना चाहिए कि कनेक्टिविटी बरकरार हो। ऐसे में सरकारी नोटिसों के पहुँचते ही केन्द्रों में हड़कंप मचना स्वाभाविक है।

कभी जन-आन्दोलनकर्ता ब्रह्मदेव शर्मा ने ठीक कहा था : "यह लोगों को समझना होगा कि वे जिस उच्च वर्ग के पिछलग्गू बने हुए हैं, वह वास्तव में नव साम्राज्यवाद का दलाल है, जो विदेशी लुटेरों के साथ मिलकर देश को लूटता है

और देश के आम लोगों के प्रति अपनी कोई जिम्मेदारी नहीं समझता। उन्हें आम लोगों के साथ मिलकर इसी ऊपरी वर्ग को ध्वस्त करना होगा। उन्हें यह भी समझना होगा कि देश के सारे प्राकृतिक और मानवीय संसाधन समुदाय के हैं और आपको जो मिलता है, वह समुदाय के लिए काम करके मिलता है।''

बार-बार छला जाता कार्तिक इस बार फिर एक उम्मीद के साथ राजशेखर के पास दिल्ली पहुँचता है, तो पाता है कि आम जन का तो इन कार्यालयों तक पहुँचना ही मुमकिन नहीं। कार्तिक के वस्तुस्थिति से अवगत कराने पर राजशेखर फिर उसे अपने भाषिक छल में उलझा देता है। उसका पूरा मिजाज इस वक्त अफसरी और अनजाने व्यक्ति-सा है। वह कुछ सुनने को तैयार ही नहीं– ''देखिए, ये निर्णय मेरा नहीं है। मैं इसे एम्पावर्ड कमेटी के पास ले जा सकता हूँ। आप सब लिखकर दे दीजिए। मैं देखता हूँ, क्या हो सकता है?''

कार्तिक देख रहा है कि सरकारी नीतियों की खामियों के चलते रचनात्मक उद्यमी याचक बन गए हैं। मीडिया का आलम यह है कि वह विषय को समझे बगैर जनहितैषी होने का नाट्य कर रहा है। विपरीत परिस्थितियों में अनुमानित अन्त के बावजूद पाठक सोचता है– जाने इस कथा का अन्त कैसा होगा?

उपन्यास के तीन अध्याय शेष हैं और एम्पार्क्ड कमेटी की रिपोर्ट आ गई है। इस रिपोर्ट में पैनल्टी को सही कहा गया है, किन्तु सरकार की ओर से अब तक सेवाएँ न दिए जाने के कारण पैनल्टी न लेने की बात भी कही गई है। केन्द्रों को पेमेन्ट न देने का कारण यह बताया गया है कि वे ऑनलाइन सेवाएँ नहीं दे रहे। इस पर तुर्रा यह कि सरकार अब अपनी कम्पनी खुद बना रही है। जनता द्वारा तैयार नेटवर्क तो वह हथिया ही चुकी है। कथा बता रही है कि मन्त्री जी ने भी अपनी एक प्रायवेट कम्पनी को सरकारी बनवा दिया है। अब न टेंडर जरूरी है और न उसकी मन्जूरी। हजारों करोड़ के काम सरलता से होने लगे हैं। इसका सबसे खराब पक्ष यह है कि इस समूचे प्रकरण के विरोध में तैयार रिपोर्ट को दबा दिया गया है। मन्त्री जी अपना और पार्टी का पैसा इसमें घुमा रहे हैं। सत्ता के दुरुपयोग पर उपन्यास की कथा सचेत होने को कहती है। यही नहीं, उपन्यास के प्रारम्भ में आया दृश्य जैसे फिर सामने है। इसमें टीवी पर मन्त्री टेलीविजन पर किसी सुन्दरी के साथ बैठे योजना को लेकर खुद की पीठ थपथपाते दिखते हैं। उपन्यास खबर देता है कि मनोनुरूप योजना को आकार देने वाले कैसे लाभान्वित किए गए हैं! किसी भी सम्वेदनशील व्यक्ति के लिए यह स्थितियाँ असह्य ही होंगी। उसके अवचेतन में अटकी चीजें विद्रोह करना चाहेंगी। टेलीविजन स्क्रीन के भीतर प्रवेश कर

अफरातफरी मचा डालने वाला कार्तिक का सपना ऐसा ही है। कार्तिक को आने वाले सपनों का विश्लेषण करने उसका मित्र अभिषेक बैठता ही है कि कोलकाता नाट्य महोत्सव का निमन्त्रण उसे मिलता है। वहाँ से लौटकर वह पाता है कि कार्तिक एकदम बदला हुआ है। इस बदलाव का कारण वह बताता है एक नया सपना जिसमें ब्लैक होल बनी एक मशीन सब कुछ लीले जा रही है। उसमें से निकलने वाले मनुष्य हों, सामान या कच्चा माल, सब का सब रसहीन होकर निकला है।

अभिषेक की लिखी अपनी कथा कार्तिक सपने सहित अपने सहयोगियों को सुनाता है। यह सुनकर नंदिता का जवाब चीजों को समझने में मदद करता है। वह कहती है– ''...जो चीजें ब्लैक होल के पास जाती हैं, वह उन्हें अन्दर खींच लेता है। समाधान ब्लैक होल से दूर रहने में है।'' वह ब्लैक होल के गुरुत्वाकर्षण से बचने की सलाह देती है!

कथांत में कार्तिक के साथ उसका सम्वाद समझ भरा है। वह बहुत साफ कहती है– ''समाधान वहाँ लौटने में है जहाँ हमें अच्छे सपने आते थे। जहाँ हम किसी भी तरह के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त थे। स्वतन्त्र थे।'' वह अपनी क्रिएटिविटी के बचे रहने से सन्तुष्ट है। सूचनात्मक अन्दाज में ही सही, पर प्रतिक्रयास्वरूप हजारों समन्वयक अब दिल्ली जाने का मन बना चुके हैं। उन्हें किए गए काम का पैसा माँगना है। उन सब के बुरे सपने अब काफूर हो चुके हैं। कथा कहती है– बुरे सपने तो अब त्यागी देखेगा।

उपन्यास अपने अन्दाज में जन–विरोधी सरकारी कार्यशैली की आलोचना करते हुए व्यक्ति को खुद पर यकीन बनाए रखने की प्रेरणा देता है। 'द प्रिंसिपल ऑफ होप' (अंर्स्ट ब्लाख) पर लिखते हुए उत्पल कुमार ने कहा है: ''पूँजीवाद मनुष्य को अमानुषिक कैसे बनाता है? वह मनुष्य से उसके स्वप्न छीन लेता है और उसको भविष्य की ओर देखने से रोक देता है, ताकि मनुष्य अपनी वर्तमान बदहाली को ही शाश्वत और अपरिवर्तनीय समझता हुआ नैराश्य में डूबा रहे। पूँजीवाद मनुष्य के मन में कोई आशा नहीं, केवल भय जगाता है। ...समाजवाद का स्वप्न मनुष्य को भय से मुक्त करता है।'' इस अर्थ में यह उपन्यास जन के हित की बात करते हुए पूँजीवादी चालों से बचने की राह दिखाता हुआ आँखें खोलने का काम करता है।
❑

सपनों के नष्ट नीड़ का यथार्थ
@ सपनों की दुनिया में ब्लैक होल

चंद्रकला त्रिपाठी

हालाँकि इस किताब की शुरुआत एक बेचैन दु:स्वप्न से होती है, जिससे जूझते हुए उस युवा का सन्दर्भ यह है कि उसमें नये भारत की खुशहाली के लिये पहल हुआ करती थी। नया भारत जो डिजिटल इण्डिया की व्याप्ति में नया जन्म लेना चाहता है और नये वैश्विक पूँजी वाले आकाओं सहित भारत के लोकतान्त्रिक विकास की प्रचलित खोल चलाये रखना चाहता है। मगर कार्तिक नामक युवा के लिये वहाँ एक पावन उद्देश्य वाला अवसर है जिसके साथ वह अपनी युवा टोली सहित जुटकर सचमुच नये सपनों के लिये चल पड़ना चाहता है। उपन्यास में इसी से सन्दर्भित पथ-विपथ का स्वप्न और यथार्थ चला आया है।

उपन्यास में उस स्वप्न के दु:स्वप्न होने का घातक यथार्थ तो है, उस कपट तन्त्र का भी सच है जिसने पूरी निर्दयता से उन सपनों को कुचल दिया है।

इस उपन्यास को पढ़कर इस पर सोचते हुए मुझे दून्या मिखाइल की कविता की विचित्र-सी लगती पंक्तियाँ याद आयीं, जिसमें सपनों के बारे में कुछ इस तरह कहा गया है कि–

'क्या स्वप्न
अपनी कुर्सियाँ ग्रहण कर रहे हैं
रात की ट्रेन पर सवार होने के लिये'

इस कविता में जाहिर है कि विडम्बना की टोह में चला एक व्यंग्य है।

यह उपन्यास भी हमारा यह अँधेरा समय लिये-दिये असली अपराधियों की टोह में निकल पड़ा है, मगर वह इससे भी कठिन विडम्बना की पूरी तस्वीर उधेड़ कर ऐसे व्यंग्य में विलुप्त होने से सब कुछ बचा लेता है। साथ ही ब्लैक होल के सर्वनाशी खिंचाव के बावजूद वह व्यवस्था के शातिर इंतजाम से मुकाबले की जगह

खोज लेता है। यह दिखाई दे जाता है कि युवा उद्यमी के लिये व्यवस्था का निरंकुश व्यूह विवेक की नयी पहल से भेदा जा सकता है। काम फिर उसे ही आना है। सक्रिय सामूहिकता, साहस और बेशक नैतिक मानवीय बल और सम्बल भी।

यह कार्तिक है। उपन्यास का केन्द्रीय जरूरी किरदार है यह। उसी के पास जिन्दगी की नयी पहल से भरे सपने हैं, ऐसे सपने जिनमें हर कदम पर सच में बदल जाने की गुंजाइशें हैं। इन सपनों का पहले अपहरण होता है। उनसे उनकी भीतरी शक्ति छीनकर निर्बल किया जाता है और फिर एक नाकामयाब परियोजना की नियति की ओर ढकेल दिया जाता है। पूरी बेशर्मी के साथ किया यह जाता है कि इस निष्फलता का पूरा ठीकरा कार्तिक के सिर पर फोड़ा जा सके। उसे ऐसे घेर लिया जाता कि उसका साबुत बचना असम्भव है।

मगर वह तो कार्तिक है, जो कभी अकेला नहीं है। यह वह कल्पनाशील और जहीन कार्तिक है वह जिसके पास अर्थव्यवस्था के दानवी दाँव-पेंच से मुकाबले वाली नैतिक मानवीय चाभी तो है ही, साथ ही अभिषेक बैनर्जी जैसा साथी है जो इस भँवर को समूचा समझने की क्षमता में है और है उसके प्रति भरोसे से भरे संघर्षशील युवाओं का साथ, जिन्हें उसने सूचना तकनीकी की दक्षता सिखायी थी और अब उसे पूँजीपरस्त सरकार से जूझने का गुर सिखाना था। उन गुंजाइशों को समझना था जिसके जरिये वे इस ब्लैक होल से बाहर निकल कर फिर अपने सुन्दर सपने के लिये चल पड़ें।

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' शीर्षक से आये संतोष चौबे के इस नये उपन्यास में यही सब कुछ रचकर और उभर कर आया है। उपन्यास की कथा में उम्मीद और जज्बे से भरे युवा उद्यमी कार्तिक के जमीन पर उतरने वाले उन सपनों का संघर्ष है जिनका मुकाबला वैश्विक पूँजी की सर्वग्रासी संरचनाओं से है। ये संरचनाएँ ब्लैक होल जैसी शक्तिशाली हैं और इन्हें देश के नेता, नौकरशाह और विश्व बैंक-जैसे पूँजी के इंतजाम में लगे खिलाड़ी खेल रहे हैं। यह खेल घातक ढंग से आपराधिक है, मगर इसकी खोल देश के लिये और उसके नये रूपान्तरण के लिये वगैरह जैसी छल से भरी भाषा है।

हम पाठकों को यह कथा कार्तिक के प्रेम और भरोसे से भरे मित्र अभिषेक बैनर्जी के द्वारा मिलती है। कार्तिक के बढ़े हुए बेचैन दुस्वप्नों को पूरा समझने के लिये वह हमें अपने साथ उन अनुभवों में लिये चलता है जिनसे कार्तिक घिर चुका है और उसके भीतर छटपटाता हुआ वह स्वप्न और यथार्थ का अन्तर भूल चुका है। अभिषेक उस यातना को समझ कर उसकी जिन्दगी के उन हिस्सों में उतरता

है जहाँ कार्तिक जैसे सफल सामाजिक उद्यमी के समूचे उद्यम को अमानुषिक तन्त्र ने निगल लिया है। वहाँ से निगल लिया है जहाँ वह सपना केवल कार्तिक का सपना नहीं था, बल्कि उन मासूम ग्रामीण युवाओं का सपना था और जिसके लिये उन युवकों ने देश का उपकार माना था। बेहद अपर्याप्त संसाधनों के बावजूद वे इन्फार्मेशन टेक्नोलॉजी से जुड़ी परियोजनाओं के लिये चली सरकारी पहल में कार्तिक के नेतृत्व में जी जान से जुटे थे। अपने गरीब बुनियादी स्रोतों से संसाधन जुटाकर वह इसे सम्भव कर रहे थे कि जिससे देश का चेहरा बदलने लगा था।

कार्तिक उनका साथी था, लीडर भी था और बड़ा जरूरी सम्बल तो था ही। उसकी प्रतिभा और संगठन के बल पर सब कुछ मानवीय सुन्दरता के साथ जुटता गया था। यहाँ यह हुआ था कि वैश्विक पूँजी की परियोजनाओं के भीतर युवा भारतीय उद्यमी की ऐसी दखल के जरिये से भारत के हाशिये पर खिसके हुए गाँवों में आर्थिक आत्मनिर्भरता का नया संसार उगने लगा था। सूचना तकनीकी की क्रान्ति में उनकी भी बहुत बुनियादी भूमिकाएँ तय हो रही थीं और यह सब कुछ सकारात्मक था, उम्मीदों से भरपूर तो था ही।

उपन्यास में आजाद भारत की इक्कीसवीं सदी के संसाधनों, सुविधाओं और परियोजनाओं के लक-दक समय की तफसीलें हैं। कार्तिक इस समय को इसके जोखिम और सम्भावना दोनों के साथ जानता है। अगर नहीं जानता तो भ्रष्ट और स्वार्थी नौकरशाहों का धोखा नहीं जानता या शायद उम्मीद की माया में फँसकर उसे देख नहीं पाता, क्योंकि उसकी नवैयत मनुष्यता में होना है। अभिषेक उसका अन्तरंग साथी है जो दुनिया को सुन्दर बनाने की उसकी इच्छा और प्रयत्न में भीतर से जुड़ा है। दोनों इतने गहरे मित्र हैं कि कार्तिक अपने विध्वंसकारी सपने से आक्रान्त मन:स्थिति को सिर्फ उससे साझा करता है और दोनों साथ-साथ उन अनुभवों को समूचा समझने के बीहड़ में उतर पड़ते हैं। अभिषेक के पास कार्तिक से ज्यादा मजबूत एक चीज है, वह है उसकी आजादी। उसका जीवन किसी व्यवस्था की कंडीशनिंग में बन्द नहीं है। इसलिये उसका विवेक अधिक जागृत है और वह स्थिति की तमाम रहस्यमयता को उधेड़ कर पूरा समझ सका है। साथ ही तटस्थ और अविचलित भी दिखाई देता है जो कार्तिक के लिये जरूरी मानवीय नैतिक सहारे की तरह ही है।

कथा उत्तर पूँजी के सरकारी प्रबन्धन और प्रपंच से सीधे मुकाबले में उतर कर विकास के कॉर्पोरेटी फरेब में सपनों की आजमाइश लिये उतरती है और ब्लैक होल से सपनों के दम पर जूझना तय करती है। यह किताब जिस स्पष्टता से

वैश्विक पूँजी की मुनाफा परियोजना में सत्ता की दलाली के यथार्थ को खोलती है, पूँजीपरस्ती में लगी नौकरशाही की पूरी टोह लेती है, वह अद्‌भुत है। इस तरह ब्लैक होल की भयानकता का पुर्जा-पुर्जा जाहिर करना इस उपन्यास की खूबी है तो यह भी काबिले तारीफ है कि इसे वह अतिरिक्त कला के बिना करती है।

कार्तिक का सपना है क्या? दरअसल यह इक्कीसवीं सदी के भारत की तरक्की को कागज के पेट से निकालने वाला एक प्रसन्न और पवित्र-सा सपना है। सपने में धूसर धूमिल देश के वंचित जन के कर्म और विवेक का बड़ा अकाट्य-सा भरोसा है जिससे जुड़कर कार्तिक की सक्रिय गतिशील दुनिया दौड़ने लगी है। कार्तिक का अनुभव यह था कि इस काम के लिये सबसे पहले देश के धूसर हाशिये पर चले गये गाँवों को पूरा समझना जरूरी है। कार्तिक की नेतृत्व क्षमता से प्रभावित हुआ भारत सरकार का अफसर उससे प्रभावित होने का आभास देता हुआ उसकी परियोजना में सेंध की सरकारी गुंजाइशों पर काम कर लेता है। तो यह काम देश को समझने से शुरू हुआ है। उसमें देश का अपना 'एकै साधे सब सधै' वाले ज्ञान का आधार है और एक तरह से यह कागजी कार्यक्रमों वाले सरकारी ढंग से बाकायदा उलट प्रकार का है। इसके भीतर जन-उल्लास की शक्ति है। इसमें लगे हुए उद्यमी अद्‌भुत मैत्री और परस्परता में हैं और सबके-सब कार्तिक की कल्पनाशीलता और उसकी परियोजना के जमीनी प्रतिफलन के प्रति विश्वास से भरे हुए हैं।

यही वह जगह है जहाँ कार्तिक की परियोजना की शक्ति समझकर देश की भ्रष्ट नौकरशाही उससे बड़ा छल कर ले जाती है। देश से पूँजी और संसाधनों की सहायता की प्रतीक्षा करने वाला कार्तिक जब तक उनके धोखे को समझता है तब तक भयानक परिणाम के निकट पहुँचाया जा चुका होता है।

देश की आर्थिक आत्मनिर्भरता के अपने सपनों को अमली-जामा वह वैसे ही पहनाता है जैसे मुक्तिबोध क्रान्ति के लिये दिल से जुड़कर जूझने की बात करते हैं। कहते हैं कि 'जिन्दगी की कोख से पैदा हुआ इस्पात दिल के खून में रंग कर।'

यह परिवर्तनकारी संघर्ष में यान्त्रिक ढंग से नहीं गहरे आत्मिक लगाव के साथ और जवाबदेही के साथ आगे बढ़ने की बात थी जिसे क्रान्तिकारी वैचारिकी भर में नहीं, जमीन पर उतरकर देखना था और जाहिर है कि तभी इसे सच होना था। कार्तिक के सपने अकेले उसके सपने नहीं थे।

उपन्यास बहुत अधिक पन्नों में नहीं है। उसकी तफसीलें बहुत फोकस्ड तरीके की हैं और उनमें स्फीति के लिये आग्रह है नहीं, कि थोड़ा प्रसंगों को उमड़ने

फैलने के लिये छोड़ दे और कल्पना को कुछ दायें-बायें तथा गहरे जाने के लिये उन्मुक्त करे। ऐसा नहीं हुआ है और कथा सीधे देखती हुई आगे बढ़ी है। कथा में पूँजी का उत्तर समय तो है ही। उस पूँजी के प्रपंच का उद्घाटन है। किरदार है। उनकी जटिलताएँ हैं और शेड्स हैं। पैतरे हैं। संकट के गहरे छटपटाते हुए रूप हैं। विश्वपूँजी के नये औपनिवेशन की सच्चाइयाँ हैं। वर्ल्ड बैंक की भारत जैसे देश में पैर फैलाने की प्रवृत्तियाँ हैं। भारतीय राजनयिकों, पूँजीपतियों और नौकरशाहों से उनकी गठजोड़ है।

भारतीय प्रबन्धन संस्थान इन्फॉर्मेशन टेक्नोलॉजी की ग्रामीण भारत में पहुँच बढ़ाने के सन्दर्भ में देश-भर से प्रजेन्टेशन आमन्त्रित करता है। युवा टेक्नोक्रेट और उद्यमी अपने प्रोजेक्ट सहित वहाँ शामिल हैं और भारत सरकार का एक प्रतिनिधि अफसर भी है और हैं कई डोनर एजेंसियाँ, वर्ल्ड बैंक का नुमाइंदा। सब आँख गड़ाये रोएँ-रोएँ से पूँजी प्रबन्धन के अपने-अपने एंगल में लगे हुए हैं। कार्तिक जानता है कि वहाँ प्रस्तुत खाकों में गाँव ही गायब हैं। वैश्विक पूँजी में भरी पश्चिम की दुरभिसन्धियाँ देश के धूसर की बेदखली पर काम करती हैं और यदि उसे छूती भी हैं तो मुनाफे के उसी अटके हुए हिसाब में। कार्तिक की योजना का नयापन और फिर उसकी सफलता की खबरें उन सरपरस्तों के कान खड़े करती हैं और वे अपने मंसूबे सहित उसमें घुसने में कामयाब भी हो जाते हैं। इसके शुरुआती दौर में कथा में सब गुडी-गुडी होकर आता है तब लगता है कि इस उपन्यास को तनाव देने वाला संघर्ष का पहलू कहाँ है। पाठक भी उस सरकारी अफसर के साथ पर्यटन वाली जगहों पर सैर में हुआ जाता है। उसे भी झील और चाँद की जुगलबन्दी ठहरा लेती है मगर थोड़ी ही दूर तक, फिर उसमें सरकारी धोखे की, सब हर लेने वाली, रगड़ घेरने लगती है और कार्तिक का दु:स्वप्न शुरू हो जाता है। फिर क्या होता है, बताना सही नहीं होगा मगर जो होता है वह दरअसल इस कठिन निस्सहायता से सामना करते हुए होता है। उपन्यास का अन्त एक सरल भरत वाक्य नहीं है जबकि सरलताओं से लेखक को बहुत प्यार है।

उपन्यास में एक कठिन कथा है। नयी-नयी दुनिया के परिवर्तन की थाह लेती कथा है यह।

इस कथा की अतिशय सरलता बहुत चकित करती है। देखा जाए तो अन्यत्र इससे सम्बन्धित विषय-वस्तु लेकर चली कथा कृतियों में सिस्टम की व्यूह रचनाओं की निरंकुशता और दमन को उनकी निर्दयता में जाहिर करने के लिये डार्क रियलिज्म के ऐसे ढंग सामने आये हैं, खासकर हमारे इस समय की जाति

सम्प्रदायपरक विसंगतियों के गहरे जटिल यथार्थ को व्यक्त करने वाली कथा कृतियों में, जो उसे लगभग एक ठंडे आतंक में छोड़ती हैं। उनका उद्देश्य व्यवस्था के प्रति आगाह करने से लेकर विरुद्ध करने तक के लिये होता है, मगर व्यवस्था के सर्वग्रासी चरित्र के मुकाबले मनुष्य की निस्सहायता का यथार्थ वे रच चुकी होती हैं। इस तरह पाठक सिस्टम में निहित अपराध से परिचित तो होता है मगर उससे मुकाबले में उठने वाले शक्तिस्रोतों का पता नहीं पाता। 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' का बोध उसके जुझारू विवेक का पक्ष बनने से रह जाता है। सम्भवत: लेखकों को यह भी लगता है कि इस रहस्यमय संघर्ष में शामिल प्रवृतियाँ और शक्तियाँ न जाने कैसा-कैसा चेहरा पहन कर कहाँ-कहाँ सक्रिय हैं। आपराधिक तन्त्र संस्थागत ही नहीं है, बल्कि सुविधा-भोगी परजीवी वर्ग के माँस-मज्जा में घुसकर उसे हजम कर चुका है। महान मनुष्यता के नैतिक मानवीय विवेक को बल देने वाली सामाजिकता का क्षरण हुआ है। वैश्विक पूँजी और मुनाफे का दैत्य मनुष्य को आमूल-चूल बदलने के अमानुषिक आत्मविश्वास से फटा पड़ रहा है जैसा कि इस उपन्यास में भी दर्ज है। वह कपट और वह दुष्टता जो सबके काम की है, देश की बोली लगाने वाले राजनीतिकों के भी बहुत काम की है। उपन्यास नौकरशाही और राजनीति के शातिर टाइप्स में प्रवेश करता है। मगर उसके पास संघर्षों से मजबूत होते उस किरदार की ऐसी भूमिका भी है जो अपने जमीनी बल पर उन दु:स्वप्नों से बाहर आता है जो सिर्फ उसके नहीं हैं।

उपन्यास में कई जगहें ऐसी आयी हैं जहाँ लगता है कि इसमें आन्तरिक व्याप्ति की गुंजाइशें थीं। जिनमें कथा में जीवन की सरसता भरने के अवसर भी थे। कार्तिक नामक मुख्य किरदार की बात करेंगे अभी तो वह एक सजग टेक्नोक्रेट होने के साथ-साथ मौजूदा विकास के मानचित्र में सजग शिक्षित आत्मनिर्भर जनभागीदारी की मुहिम में अपना योगदान करना चाहता है और उसके पास एक सकर्मक किस्म का ब्लूप्रिन्ट है जो कदम-कदम पर ज्ञान को क्रिया में बदल रहा है। वह सक्रिय ज्ञान के आत्मिक आवेश से भरा हुआ है। उसमें जीवन को रूपान्तरित करने की पवित्र इच्छा है। यह उसका सपना है और इस सपने में सबका सपना शामिल है। यहाँ कहना यह है कि कार्तिक के आत्मसंघर्ष को उसके विरुद्ध जाने वाली स्थितियों के असर को और गहरा करते हुए, सन्दर्भों में समकालीन विश्व के पैंतरों को और अधिक एक्सपोज करते हुए और परम्परा से मिले नायकों की भीतरी पावन उदासी के गीले स्पर्श को रचकर अविस्मरणीय बनाया जा सकता था, क्योंकि कथा के भीतर इसकी सम्भावनाएँ सहज ही दिख रही हैं मगर लेखक

टेक्नोलॉजी के सूखे हिस्सों को नरम करने वाले प्रसंगों में कुछ पिकनिक जैसे रूप रचने की ओर चला गया है। जो वहाँ तक तो ठीक है कि भारत सरकार के एक प्रतिनिधि को प्रभावित करने में सफलता मिल जाये। उपन्यास का यही वह हिस्सा है जो भविष्य में नमूदार होने वाले तनावों के सुराग तक नहीं देता और बड़ा अच्छा महसूस कराने लगता है। पाठक एक सैरगाह में होने के अनुभवों में घुलने लगते हैं। कुछ पाठकों को लगने लगता है कि यहाँ ब्लैक होल वाली रपटन के संकेत तो होने चाहिए थे।

कहना यही है कि इस कथा में बहुत इंटेंस कथा होने की सम्भावनाओं को भी लेखक ने लगभग मद्धिम कर दिया है मगर इसकी बड़ी सफलता उत्तर आधुनिक समय के जरूरी पहलू को कथा में सजीव करने में है। कार्तिक के छटपटाते सपने में शिद्दत-भरा असर रचने की क्षमता है। देश का आर्थिक यथार्थ लगभग अदृश्य और रहस्यमय होता गया है। उसमें खपे हुए अनन्त बिचौलिये साइलेंट से होते हैं। पूँजी की आक्रामकता को न पहचानते हुए हममें से अधिकांश लोग देश को सतह पर देखते हैं। उसके भीतर सक्रिय खरीद-फरोख्त को जाने बिना, आध्यात्मिक तरीके से, कभी सत्ता तो कभी विपक्ष हुए जाते हैं। उन अपराधों का पता नहीं पाते जिनमें किसी देश तक का बेच दिया जाना शामिल है। एक बड़ा सटीक सन्दर्भ भाषा का है, नवसाम्राज्यवाद के धोखे का यह भी एक आयाम है। कार्तिक का प्रस्थान गाँव को समझने के जिस बिन्दु से है वहाँ भाषा का प्रश्न एक जरूरी जगह लेता दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त उपन्यास विश्व पूँजीवाद की मुनाफाखोरी की उस तह को भी खोल गया है जिसके भीतर भारतीय जन की जरूरत और आकांक्षा से अपरिचित वे उन्हें मार्केट में अपनी जगह बनाने के युद्ध में पूरी निर्दयता से ढकेल देते हैं। इस जगह से देखें तो उपन्यास ने एक नये जटिल क्षेत्र में प्रवेश किया है। इसलिये यह महत्वपूर्ण है।

यह किताब लगभग निर्दोष छपी है। कागज की तो बात ही क्या कहें। बहुत उत्तम है। उपन्यास में युवता की सुन्दर गतिशील और आशावादी और इसलिये कुछ कर गुजरने वाली उपस्थिति है। कथा में कहन की सहजता और गति है। किसी प्रसंग में ओझल तरीके की सूक्ष्मता रखना लेखक को प्रिय नहीं है। अवश्य ही यह उसकी सादगी का बायस है।

इस आलेख का अन्त मैं शमीम फरहत के इस शेर से करना चाहती हूँ कि

'गयी थी गाँव से शहरों की ओर पगडंडी
तुम उसका जिक्र सुनोगे मियाँ तो रो दोगे।'

❑

सपनों की दुनिया में ब्लैक होल – तन्त्र की पतन गाथा का वृत्तान्त!!

कैलाश मंडलेकर

ब्लैक होल को हिन्दी में कृष्ण विवर कहा जा सकता है। खगोल वैज्ञानिकों का मानना है कि ब्लैक होल अथवा कृष्ण विवर गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र वाली एक ऐसी वस्तु है जिसमें चीजें गिर तो सकती हैं, लेकिन वापस नहीं आ सकतीं। दरअसल ब्लैक होल मूलतः खगोलीय दुनिया का शब्द है इसलिए कुछ रहस्यमय भी है। उपन्यासकार संतोष चौबे के नवीनतम उपन्यास का नाम है, 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल'। इसमें सपना और ब्लैक होल दोनों ही पद ऐसे हैं जो एक तरह की काल्पनिकता एवं रहस्यमयता का संकेत देते हैं। लेकिन उपन्यास की कथावस्तु में किसी तरह का रहस्य नहीं है, बल्कि उपरोक्त दोनों ही पद आइरनी अथवा व्यंजकता के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और व्यवस्था तथा समाज के (कटु?) सम्बन्धों का खुलासा करते हैं। इस खुलासे में कई जगहों पर रोचक किस्सागोई भी है और तन्त्र के प्रति तीव्र अथवा मद्धम आक्रोश भी। राजनीतिक हलकों में आत्यन्तिक तौर पर प्रयुक्त किए जाने वाले कुछ शब्द अथवा शब्दयुग्म, आम जन को लम्बे वक्त से भ्रमित किए हुए हैं। इनमें विकास, कार्पोरेट्स, ऑटोमाईजेसन, स्टैंड अप इंडिया, डिजिटल इंडिया तथा स्टार्ट अप जैसे शब्द नए और आकर्षक हैं। ये शब्द पार्टियों के मेनिफेस्टो में घुसकर जिस तरह का मायावी संसार निर्मित करते हैं वह बहुत आकर्षित करता है। पर इस शब्दावली के नेपथ्य का यथार्थ बहुत घातक और पीड़ा दायी है। आलोच्य कृति की कथा इस यथार्थ को न केवल उजागर करती है वरन उससे मुठभेड़ का हौसला भी देती है।

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' का औपन्यासिक फलक कार्तिक त्रिवेदी नामक एक युवा के सपनों और महत्वाकांक्षाओं पर केन्द्रित है। कार्तिक ही इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र भी है। वह संगीत प्रेमी, स्वप्नदर्शी, उत्साही और

तकनीकी क्षेत्र में नवाचार करने के प्रति आत्यन्तिक तौर पर लगनशील है। उसे नौकरशाही, राजनीतिक गिरोहबंदी तथा इन इलाकों में होने वाले दूषित गठजोड़ों से गहरी वितृष्णा है। एक प्रबन्धन संस्थान में प्रेजेन्टेशन के लिए जब कार्तिक को आमन्त्रित किया जाता है तब कम्प्यूटर क्रान्ति के सन्दर्भ में वह बिजली, कनेक्टिविटी और भाषा जैसे बुनियादि मुद्दों की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट करता है। कार्तिक का ग्रामीण जन-जीवन से स्वाभाविक जुड़ाव है इसलिए उसके द्वारा कही गई बातें गहरा असर करती हैं। इस सेमिनार में सरकार के सूचना तकनीक के सचिव राजशेखर भी मौजूद रहते हैं जो पहली ही मुलाकात में कार्तिक की विद्वता और समझ से प्रभावित होते हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों में तकनीकी विस्तार को लेकर तैयार किए गए उसके मॉडल के प्रति अपनी रुचि को प्रदर्शित करते हैं। प्रेजेन्टेशन के दौरान तकनीकी सचिव राजशेखर, कार्तिक को दिल्ली आमन्त्रित करते हैं तथा उसके प्रेजेन्टेशन को मन्त्रालय में आयोजित करने का भी आश्वासन देते हैं, लेकिन कार्तिक इस आमन्त्रण को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है, ''मेरे दिल्ली आने से शायद बात न बने। दिल्ली तो मैं कभी भी आ सकता हूँ पर मुझे लगता है पहले आपको फील्ड में आकर हमारी टीम से मिलना चाहिए। देखने और मिलने में जो समझ बनती है वह प्रेजेन्टेशन से नहीं बनती।''

अन्तत: प्रेजेन्टेशन के लिए कार्तिक को दिल्ली जाना मुआफिक नहीं लगता। वह राजशेखर को मांडू में आयोजित होने वाले ब्रेन स्टार्मिंग अथवा मानस मंथन शिविर में आमन्त्रित करता है। यहाँ आकर उपन्यास की कथाभूमि का विस्तार तकनीकी विमर्शों से परे मांडू की ऐतिहासिकता और पुरातात्विक महत्व पर केन्द्रित होता है। जो न केवल पाठ-सुख प्रदान करता है वरन सिटी ऑफ ज्वाय मांडू के अतीत से जुड़े ऐतिहासिक सन्दर्भों का भी खुलासा करता है। इनमें इतिहास, पुरातत्व तथा स्थापत्य से सम्बन्धित अनेक ज्ञात, अज्ञात तथ्यों के दिलचस्प विवरण मौजूद हैं। मसलन, ''संस्कृत ग्रंथों में मांडू का उल्लेख मंडप दुर्ग के नाम से हुआ है। यह उल्लेख जैन गुरु आदिनाथ की मूर्ति के आधार पर मिलता है।'' साथ ही रानी रूपमती और बाज बहादुर की प्रसिद्ध प्रेमकथा एवं राजा भोज और गंगू तेली से बावस्ता किंवदंती का भी जिक्र हुआ है।

मांडू में आयोजित ब्रेन स्टार्मिंग शिविर में सुदूर ग्रामीण अँचलों से आए कम्प्यूटर और तकनीकी पर आधारित केन्द्रों का संचालन करने वाले अनेक प्रतिभागी हिस्सेदारी करते हैं तथा इन केन्द्रों को संचालित करने के दौरान जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ आती हैं उन पर खुलकर विचार-विमर्श होता है। इस विमर्श से जो तथ्य

बरामद होते हैं उसका संक्षिप्त सारांश यह है कि विकास का आकलन राजनीतिक दलों के एजेंडों के आधार पर नहीं किया जा सकता। उसकी पहुँच का पैमाना सुदूर जनपदों के बाशिंदों की जरूरतें और माली हालत को देखकर किया जाना चाहिए। ग्रामीण इलाकों में युवाओं द्वारा संचालित केन्द्रों का मुआयना करने आये सरकारी प्रतिनिधि त्यागी से सम्वाद के दौरान एक आदिवासी पात्र लक्ष्मैया वासम कहता है, ''विरोध विकास का नहीं, विरोध इस बात का है कि हमें उसमें शामिल नहीं किया जा रहा है।''

और अन्तत: लक्ष्मैया वासम का उक्त कथन सच साबित होता है। कार्तिक द्वारा मेहनत से तैयार किए गए मॉडल को षड्यन्त्र पूर्वक हथिया लिया जाता है। गवर्नमेन्ट द्वारा स्थापित कम्पनी ने पूरा नेटवर्क हथिया लिया और कार्तिक जैसे लोगों को, जिन्होंने नेटवर्क खड़ा किया था, दस सालों तक कड़ी मेहनत की थी उन्हें बाहर का रास्ता दिखा दिया गया। वास्तव में सपनों की दुनिया में ब्लैक होल की कथा, नौकरशाही की अकर्मण्यता, घामड़पन तथा युवा सपनों के ध्वंस की कथा है। जो व्यवस्था के प्रति आक्रोश और वितृष्णा पैदा करती है। जो लोग उपन्यासकार को व्यक्तिगत तौर पर जानते हैं वे कार्तिक के चरित्र में डॉ. संतोष चौबे की कार्य प्रणाली और व्यक्तित्व की छाया को भी देख सकते हैं। आमीन!

❑

यथार्थ के ब्लैक होल में रजत-रेखा की खोज

प्रज्ञा

वरिष्ठ कवि, कथाकार, उपन्यासकार संतोष चौबे जी की पकड़ समय के बदलते यथार्थ पर हमेशा बनी रही है। वे यथार्थ को उसकी जटिलता, विस्तार और संश्लिष्टता में चित्रित करते हैं। 'राग केदार', 'क्या पता कॉमरेड मोहन' और 'जल तरंग' जैसे चर्चित उपन्यास इसके उदाहरण हैं और 'रेस्त्राँ में दोपहर' उनका बहुचर्चित कथा-संग्रह मेरे इस कथन की तस्दीक करता है। उनका नव्यतम उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' एक विशिष्ट उपन्यास है जो यथार्थ को उसके स्थानीय और वैश्विक संदर्भ में पकड़ने का प्रयास करता है।

इस उपन्यास को पढ़ते हुए कई सवाल मेरे जेहन में उठे। इस उपन्यास में ये सवाल अलग-अलग पक्षों से जुड़कर समस्या को उसकी सघनता में उठाते हैं। ये बुनियादी सवाल हैं–

कि जब पूँजी हमारी पूरी दुनिया को संचालित कर रही है तो क्या ऐसे में हम और हमारी मनुष्यता क्या बच पाएगी?

दूसरा, सवाल यह है कि ग्लोबल समय में आवारा पूँजी ने दुनिया के स्वरूप को किस प्रकार बदला है? इसका स्थानीय स्तर पर क्या प्रभाव पड़ा है?

तीसरा, सवाल यह है कि क्या दुनिया को बदलने के सपने देखना बन्द हो जाना चाहिए?

चौथा, सवाल यह है कि ग्लोबल साउथ के देशों की गरीबी, अशिक्षा, अपराध, और भ्रष्टाचार का वैश्विक पूँजीवाद से क्या सम्बन्ध है?

पाँचवाँ, सवाल भारतीय परिप्रेक्ष्य जुड़ा है कि क्या कारण हैं कि विकास की भागीदारी में गाँव हाशिए पर हैं? यानी असमान विकास के लिए कौन-सी नीतियाँ जिम्मेदार हैं?

छठाँ, सवाल यह है कि देश में नक्सलवाद की समस्या क्या मात्र राजनीतिक

है? या फिर इसके अन्य कारण भी हैं।

सातवाँ, सवाल यह है कि क्या कारण है कि युवाओं के देश में युवा दिशाहीन बनाए जा रहे हैं? यानी देश की परिस्थितियों को बदलने के लिए युवाओं के आदर्श कौन और कैसे होंगे?

आठवाँ, सवाल यह कि क्या कारण हैं देश की जनकल्याण की सरकारी योजनाएँ अपने लक्ष्यों को पाने में सफल नहीं हो पाती?

और सबसे जरूरी सवाल कि हम ऐसा क्या करें कि जिससे यह देश यह दुनिया और इनमें रहने वाले मनुष्य आजादी, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान से भरे जीवन के सपने देखता रहे?

ऐसे ही अनेक आर्थिक प्रश्न हैं जिन्हें 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' उपन्यास उठाता है।

संतोष जी का यह उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' एक यथार्थपरक रचना है। यह उपन्यास उस सत्ता व्यवस्था का पर्दाफाश करता है जो देश की पूरी की पूरी युवा पीढ़ी के सपनों को नाउम्मीदी के ब्लैक होल में धकेल रही है। यह उन आदर्शवादी युवाओं की कहानी है जो इस देश के गाँवों को बदलने और मुख्यधारा के साथ कदम से कदम मिलाकर चलते हुए देखने का सपना देखते हैं। जो यह मानते हैं कि समाज को संगठित कर सूचना प्रौद्योगिकी की सहायता से बदला जा सकता है। जो यह मानते हैं कि परिवर्तनकारी योजनाओं के लिए धन की नहीं अपितु सही दिशा और समझ की जरूरत है। जो मानते हैं कि अपने देश, अपने समाज को बदलने और आगे बढ़ाने के लिए व्यापक जनान्दोलनों की जरूरत है। यह उपन्यास बेरोजगारी, डिजिटल डिवाइड, सरकार की पूँजीपति समर्थक नीतियाँ, गाँवों की बिगड़ती अर्थव्यवस्था, भ्रष्टाचार, भूमंडलीकरण की आड़ में चलते अन्तर्राष्ट्रीय शोषण, यूरो-अमेरिकी वर्चस्ववाद, नक्सलवाद जैसी देश की कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं को उठाता है। उपन्यास की कहानी कार्तिक की है जिसकी संस्था द्वारा स्थापित जनसूचना केन्द्रों की सफलता की कहानी सुनकर भारत सरकार का एक बड़ा अफसर राजशेखर, कार्तिक से मिलने बाज बहादुर और रूपमती के प्रदेश मांडू पहुँच जाता है और उसी मॉडल से प्रभावित होकर देश में उसके मॉडल को लागू करने का विचार लेकर जाता है। वह और उसका बॉस त्यागी मिलकर एक बड़ा आयोजन कर कार्तिक के मॉडल को सरकारी योजना का जामा पहनाकर प्रस्तुत करते हैं और भ्रष्ट नौकरशाह कार्तिक को धोखा देकर नयी योजना से उसे बाहर कर देते हैं। यह कहानी उसके इसी संघर्ष को बयान करती

है। भले ही यह कहानी कार्तिक के माध्यम से कही जा रही हो, परन्तु यह कहानी भारत के अनगिनत कार्तिकों की है जो भ्रष्ट सरकारी तन्त्र के षड्यन्त्रों का शिकार हो जाते हैं।

कथानायक कार्तिक की समस्या यह है कि वह सपने देखता है। उसके सपने दो प्रकार के हैं। पहले सपने वे हैं जो वह खुली आँखों से देखता है वे सपने हैं ग्रामीण क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन, विकास, आत्मनिर्भरता और जनसशक्तीकरण के, जिनके लिए वह अपने जैसे युवाओं को संगठित करता है। दूसरे सपने वे हैं जो उसके समय के सपने हैं जिनमें वह उन मनुष्य विरोधी सत्ताओं की बर्बरता को देखता है जो व्यापक जनकल्याण और विकास का लबादा ओढ़कर आ रही हैं। वह अपने इन सपनों से परेशान है। कभी वह देखता है कि वह टीवी के भीतर घुस गया है जहाँ वह झूठ बोलते नेता का गला पकड़ लेता है और सवाल पूछता है। यह सवाल पूछना मन्त्री और अधिकारियों को बुरा लगता है और वे उसे देशद्रोही करार देकर प्रेस कॉन्फ्रेंस से बाहर निकाल देते हैं। कार्तिक के सपनों को उसका मित्र अभिषेक दमित इच्छाओं को प्रतिफलन बताता है। वह कार्तिक के सपनों के माध्यम से वर्तमान व्यवस्था पर व्यंग्य करता है। वह कहता है, ''आजकल ये मीडिया वालों ने 'अपनों के सपनों' से भयानक आतंकित कर रखा है। जब तक पर्टिकुलर ब्रांड की कार नहीं खरीदी 'अपनों का सपना' पूरा नहीं होगा। सत्ताईस इंच का टीवी नहीं लिया तो सपना अधूरा ही रह जाएगा। लाइफ इंश्योरेंस की फलाँ पॉलिसी नहीं खरीदी तो जीवन व्यर्थ हो जाएगा... (पृष्ठ-9) सपना एक बुनियादी मानवीय क्रिया है जिस पर आपका कोई बस नहीं होता। आपके भय, चिन्ताएँ, खुशियाँ और इच्छाएँ सभी कुछ सपनों के रूप में बार-बार प्रवेश करते हैं। ये सपने मन के भीतर चल रही उथल-पुथल का परिणाम होते हैं परन्तु मनुष्य के सपने मात्र वे नहीं होते जो उसके अवचेतन मन में घटित होते हैं अपितु मध्यवर्गीय मनुष्य अपने जीवन-समाज और दुनिया के लिए एक अपना रूप स्वीकार कर लेता है, परन्तु समस्या उन सपनों से नहीं है जिन्हें मनुष्य सामान्यत: स्वयं देखता है और उसे साकार करने के लिए प्रयत्नरत होता है। समस्या वहाँ उत्पन्न होती है कि जब उसके सपने उसके व्यक्तित्व जीवन-परिवेश से उपजे नहीं होते अपितु सत्ता केन्द्र मनुष्यों के लिए सपने निर्धारित करना प्रारम्भ कर देते हैं। ये सपने बाजार, मीडिया, राजनीति के द्वारा निर्धारित होते हैं जिन्हें पूरा करने के लिए वह दिन-रात जुटा रहता है। इस सपने में उसे दिखाए जाते हैं चमचमाते बाजार, ऊँची-ऊँची इमारतें, दुनिया भर के ऐश्वर्य और समृद्धि। उसे कहा जाता है कि यही सपना है जिसे तुम्हें अपने

लिए पूरा करना है और जब आदमी इन सपनों को पूरा करने की अंधी दौड़ में शामिल हो जाता है तब उसके समाज, देश और दुनिया के समानता, स्वतन्त्रता और आत्मसम्मान जैसे बुनियादी सपने मर जाते हैं। सपनों की इसी मौत को पाश ने सबसे खतरनाक कहा था– उन्होंने कहा था कि

''सबसे खतरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना....
सबसे खतरनाक वो दिशा होती है
जिसमें आत्मा का सूरज डूब जाए
और जिसकी मुर्दा धूप का कोई टुकड़ा
आपके जिस्म के पूरब में चुभ जाए।''

यह बात समझनी चाहिए कि कार्तिक के सपने सिर्फ उसके सपने नहीं हैं, वे उसके समाज के, देश के सपने हैं। इन सपनों में उतरा भय, इन सपनों में पसरी हुई निराशा और इन सपनों का सच वास्तव में देश का सच बन रहा है। देश का चेहरा ऐसा बन रहा है जिसमें निराशा और भय साफ दिखाई देते हैं।

इस उपन्यास को पढ़ते समय मैंने पाया कि प्रारम्भ में ही मध्यप्रदेश के खूबसूरत ऐतिहासिक क्षेत्र मांडू का वर्णन विस्तार से आया है। मांडू, रानी रूपमती और बाज बहादुर के प्रेम के कारण जाना जाता है जिन्हें मुगल सिपहसालार अधम खान के कारण बिछड़ना पड़ा। बाज बहादुर जिलावतन हुए तो रानी रूपमती जहर खाकर मौत की आगोश में समा गईं। मैं सोच रही थी कि कथाकार को इस प्रसंग को इतना अधिक विस्तार देने की क्या जरूरत थी पर यदि आप उस पूरे प्रसंग को ध्यान से देखें तो पाएँगे कि यह प्रसंग लोभी विस्तारवादी सत्ता के द्वारा मनुष्य सबसे कोमल सपने प्रेम के नष्ट किए जाने का प्रसंग है। विस्तारवादी सत्ता का ब्लैक होल प्रेम के सपने को निगल जाता है। ठीक वैसे ही जैसे कार्तिक के जन-सूचना केन्द्रों के कोमल सपने को व्यवस्था का ब्लैक होल लील जाता है।

दरअसल कार्तिक की समस्या तब ही शुरू होती है जब वह मीडिया, बाजार, राजनीति और सत्ता के द्वारा दिखाए जा रहे सपने से बाहर आ जाता है और अपने समाज के आर्थिक-सामाजिक यथार्थ को बहुत गहराई से देखता है। वह देखता है कि भारत समेत दुनिया भर में एक खेल चल रहा है जिसमें आम जनता की पूँजी उनकी जेब से निकलती तो है पर फिर कभी वापस नहीं आती। उपन्यास का वाचक अभिषेक बैनर्जी कहता है कि, ''जिसने उद्योगपतियों को धनी और बैंकों को कंगाल बनाया था, जिसमें जनता का पैसा एक सकिंग मशीन की तरह खींचा

तो जा रहा था पर वहाँ से उसके लौटने की कोई गारंटी नहीं थी और कभी रूप बदलकर भव्य इमारतों की शक्ल में, इधर-उधर टहलती आवारा पूँजी के रूप में या तहखानों तथा बैंक लॉकरों में काले दानव के रूप में छुपा पाया जाता है।'' (पृष्ठ-15) कार्तिक, आवारा पूँजी और क्रोनी कैपिटलिज्म के सच को समझता है। वह जानता है कि आवारा पूँजी आज मात्र अर्थव्यवस्था नियंत्रित नहीं कर रही अपितु वह हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन व विचारों को भी परिवर्तित कर रही है। यह याद रखा जाना चाहिए कि उदारीकरण के बाद यह आवारा पूँजी विश्व भर की अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित कर रही है।

उपन्यास में कथाकार संतोष चौबे बड़ी कुशलता से सत्ताओं के चरित्र को उजागर करते हैं। वे बताते हैं कि किस प्रकार सत्ताएँ अर्द्धसत्यों और विराट् स्वप्नों का मायाजाल रचती हैं जिसमें विकास, सामूहिक कल्याण और जनसेवा की ऐसी चमक होती है कि आमजन उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। इनके साथ ही एक और वास्तविकता भी सामने आती है कि नब्बे के दशक में शुरू हुए वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण के दौर में सभी प्रकार की समस्याओं का निदान पी.पी.पी. मॉडल के माध्यम से करने का प्रयास किया गया। यह कहा गया कि अब सरकार की भूमिका बदल गई है उसकी भूमिका मात्र फेलीसिटेटर की है। इस दौर में सरकार ने शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, आवास, यातायात जैसे बुनियादी क्षेत्रों से भी हाथ खींच लिए और इन सभी क्षेत्रों में निजी पूँजी को आमन्त्रित किया इसे ही प्राइवेट पब्लिक पार्टनरशिप का नाम दिया गया। इससे कुछ क्षेत्रों में विकास तो हुआ परन्तु यह विकास मुख्यत: शहर केन्द्रित और सम्पन्न वर्ग केन्द्रित अधिक रहा। अमीर के हिस्से में विश्व स्तरीय सुविधाएँ और गरीब के हिस्से में संसाधन विहीन मजबूरियाँ आईं। परिणामस्वरूप भारत भी दो हिस्सों में बँट गया। अधिकांश पी.पी.पी. मॉडल असफल हुए। उपन्यास में अवस्थी कहता है, ''पीपीपी की सड़कों में गड्ढे हो जाते हैं, प्रोजेक्ट अधूरे छूट जाते हैं और जहाँ उत्साह तथा समृद्धि का संचार होना था वहाँ निराशा फैल जाती है। पर सरकार को फर्क नहीं पड़ता। वह नए विचार के साथ पीपीपी शुरू करती है।'' (पृष्ठ-113) इस असफलता का खामियाजा आम जन को ही भुगतना पड़ता है।

कार्तिक जैसा स्वप्नशील, आदर्शवादी युवा भी सत्ताओं के इस मायाजाल में फँस जाता है। वह सोचता है सरकार के प्राइवेट पब्लिक पार्टनरशिप या पी.पी.पी. मॉडल से देश में विकास होगा परन्तु उसे यह कड़वा सच बाद में समझ में आता है जब वह यह देखता है कि यह मॉडल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक

की पूँजी की सुरक्षा करने के लिए गढ़ा गया है। वह देखता है कि सरकार के भ्रष्ट अधिकारी कार्तिक के जनसूचना केन्द्र के मॉडल को अपनाते तो हैं पर पूरी प्रक्रिया में से कार्तिक को ही हटा देते हैं और विदेशी सलाहकारों की सलाह पर जनसूचना केन्द्र मॉडल को इस प्रकार परिवर्तित कर देते हैं कि जनसूचना केन्द्र बेहद घाटे में चले जाते हैं। जनसूचना केन्द्र के माध्यम से ग्रामीण समाज के विकास का जो सपना कार्तिक ने देखा था वह चूर-चूर हो जाता है। कार्तिक अनुभव करता है कि जैसे इस योजना को जानबूझ कर असफल कराने के लिए कोई षड्यन्त्र रचा गया हो। वह देखता है कि ''भारत इतना विविध देश था पर टेंडर में अरुणाचल प्रदेश से लेकर बस्तर तक और बस्तर से लेकर केरल तक एक ही तरह के प्रावधान थे। उसमें भाषा कहाँ थी, सांस्कृतिक विविधता कहाँ थी, स्थानीयता कहाँ थी, लोगों के शैक्षिक स्तरों में फर्क की पहचान कहाँ थी, खुद लोग कहाँ थे? सरकार देश-भर की पंचायतों पर 'नियन्त्रण' करने की जल्दी में थी। इस तरह तो परियोजना का फेल होना सुनिश्चित था।'' (पृष्ठ-77) यूँ तो सरकारी परियोजनाओं की असफलता किसी एक कारक पर निर्भर नहीं करती हैं पर यह बात सच है कि भ्रष्टाचार और अदूरदर्शिता के कारण सरकारी परियोजनाएँ असफल हो जाती हैं।

उपन्यास दिखाता है कि कार्तिक की योजना पर आधारित ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित सूचना प्रौद्योगिकी आधारित केन्द्र सरकारी अदूरदर्शिता और उससे लाभ उठाने वाले भ्रष्ट लोगों की वजह से असफल होने लगते हैं, जहाँ एक ओर कार्तिक जनसंवाद के माध्यम से जनसूचना केन्द्रों को सफल बनाता है वहीं त्यागी और राजशेखर जैसे अवसरवादी और चालाक अफसरों की गलत नीतियों के कारण अन्य लोगों की भाँति कार्तिक के केन्द्र भी संकट में आ जाते हैं। अफसर हर वो चाल चलते हैं कि जिससे कार्तिक जैसे युवाओं के स्वप्न दु:स्वप्न में तब्दील हो जाएँ। इस समय में कार्तिक को अक्सर ये सपने आने लगते हैं कि जैसे वह किसी अनजान शहर में गुम हो गया या वह रेलगाड़ी पकड़ना चाहता है पर रेलगाड़ी छूट रही है। निराशाओं के खंडहरों में भटकते मन को इसी प्रकार के स्वप्न आते हैं।

उपन्यास के अन्त में कार्तिक अपने एक और सपने को साझा करता है। यह सपना हमारे समय के एक भयानक यथार्थ को सामने लाता है। यह यथार्थ हमारे युग का यथार्थ है जो मात्र भारत तक सीमित नहीं है। इस यथार्थ में दुनिया-भर के गरीब और विकासशील देश शामिल हैं। कार्तिक कहता है, ''मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है जो धमन भट्ठी की तरह है जिसमें एक ओर से बहुत सारे

मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी तरफ से पूँजी निकल रही है... मेरे देखते ही देखते मशीन एक ऑटोमेटन में बदल गई जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस ऑटोमेटन में गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते खेलते देश उस मशीन में डाले जाते और इधर से बंजर भूमि, सूखे रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल जैसा कुछ था जो उन्हें सोख रहा था। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में ही परिवर्तित हो गई और उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है ये दिखना बन्द हो गया।'' (पृष्ठ-130) ऑटोमेटन का अर्थ है एक ऐसी मशीन जिसे एक विशेष कार्य के लिए प्रोग्राम किया गया हो। कथाकार संतोष चौबे ऑटोमेटन के अर्थ का विस्तार करते हैं। यह मशीन किसी कारखाने में नहीं बल्कि विभिन्न देशों और समाजों में पूँजी ने स्थापित की है। एक ऐसी मशीन जो जीते-जागते मनुष्यों को पूँजी उत्पादित करने वाले कच्चे माल में परिवर्तित कर देती है। यह मशीन निरन्तर अपना प्रसार कर रही है। इस मशीन की भूख मात्र कच्चे माल से नहीं बुझती, बल्कि इस मशीन में पेड़, जंगल, पहाड़, नदी, हवा, आसमान सब कुछ समा रहा है। संतोष चौबे का ये विराट रूपक बताता है कि इस मशीन में जो एक बार चला जाता है वह कभी वापस नहीं आता। यह मशीन ब्लैक होल की तरह से काम करती है। जैसे ब्रह्मांड में मौजूद ब्लैक होल प्रकाश तक को नहीं बख्शता वैसे ही पूँजी का यह ब्लैक होल सब कुछ निगल रहा है। यहाँ कथा स्थानीय नहीं रहती, अपितु यह कथा वैश्विक मानव समुदाय की कथा बन जाती है। हम देख पाते हैं कि यह कथा मात्र भारत की ही नहीं है मैक्सिको की भी है। यह कथा रवांडा की भी है, यह कथा कांगो की है, यह कथा बांग्लादेश की है, यह कथा कम्बोडिया की है। कुल मिलाकर यह कथा पूरे ग्लोबल साउथ की बन जाती है और यह उपन्यास भूमंडलीय यथार्थ का उपन्यास बनता है। वैश्विक यथार्थ लिए हुए ये सभी वे देश हैं जहाँ यह आवारा पूँजी का ब्लैक होल सब कुछ को निगल रहा है। यह नहीं भूलना चाहिए कि पूँजी से उत्पन्न ये पूँजी वास्तव में मनुष्य के खून से सनी हुई है। पूँजीवाद और विश्व भर की सरकारों ने जनता के ऊपर इस खून से सनी पूँजी को चुना है इसलिए यह तय है कि इस ब्लैक होल से निकलने के लिए जनता को स्वयं प्रयास करने होंगे। सामूहिक संघर्ष के प्रयास। उपन्यास का अन्त इसी ओर संकेत करता है कि मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते।

कथाकार संतोष चौबे अपने इस उपन्यास में नक्सलवाद की समस्या और उसके

कारणों की पड़ताल भी करते हैं। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि देश में क्षेत्रवार आर्थिक विषमता बहुत अधिक है। देश के कुछ हिस्से समृद्ध हैं तो अनेक हिस्से ऐसे भी हैं जहाँ पर देश के संसाधन पहुँच ही नहीं पा रहे हैं। भ्रष्टाचार, जनता से कटाव और जन-उपेक्षा के कारण इन प्रदेशों में जनाक्रोश बहुत अधिक होता है इसका परिणाम यह होता है कि इन क्षेत्रों में नक्सलवाद की समस्या। उपन्यास में आदिवासी लक्ष्मैया का कथन है, ''विरोध विकास का नहीं है। विरोध इस बात का है कि हमें उसमें शामिल नहीं किया जा रहा। सदियों से हमारे पूर्वज इस क्षेत्र में रह रहे हैं। अगर आप हमारे पारम्परिक कामों को खत्म कर हमारी जमीन पर बड़े-बड़े प्रोजेक्ट लगाएँ तो उनमें हमें शामिल तो करिए।'' (पृष्ठ-96)। इसी प्रकार अन्य आदिवासी बुधराम कहते हैं कि बड़े प्रोजेक्ट आदिवासी क्षेत्र के पहाड़ों, नदियों को प्रदूषित कर रहे हैं। आदिवासी सोनी मरकाम प्राचीन आदिवासी जन-परम्पराओं के ऊपर नगर केन्द्रित परम्पराएँ थोपने और पंचायत में सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार के प्रति अपना रोष व्यक्त करता है। वह कहता कि भ्रष्ट अफसर मनमाने ढंग से अपने निर्णय आदिवासियों पर थोपते हैं और निरक्षर आदिवासियों से मनचाहे कागजों पर दस्तखत करा कर ले जाते हैं। इसी प्रकार नक्सलवादी हिंसा का प्रतिरोध करने के लिए बनाए गए सल्वा जुडूम को भी आदिवासी सरकार द्वारा प्रायोजित हिंसा करार देते हैं। कार्तिक नक्सलवादी की अमानवीयता और उसके खात्मे के लिए किए जा रह प्रयासों की वास्तविकता को जानता है। वह कहता है, ''हिंसा का समर्थन तो शायद ही कोई करे और अब तो अन्तर्राष्ट्रीय फैक्टर भी जुड़ गया है... जो भारत को अस्थिर करने का प्रयास है और जिसका विरोध किया जाना चाहिए। लेकिन मूल बात यह है कि आपकी विकास की अवधारणा क्या है और क्या आप उसमें लोगों को शामिल कर रहे हैं, विशेषकर उनको जिनके संसाधन छीने जा रहे हैं।'' (पृष्ठ-98) उपन्यास नक्सलवाद की समस्या की व्यापकता में समझने का आव्हान भी करता है और नीति नियंताओं से माँग करता है कि योजनाओं में जनता की भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए।

संतोष चौबे का कथाकार अपने आस-पास बिखरे ठोस यथार्थ को बहुपर्ती आयाम में रचता है। टेरी इगल्टन ने अपनी किताब 'हाउ टू रीड लिटरेचर' में कहा है कि साहित्य में भाषा मात्र यथार्थ और अनुभव को व्यक्त करने का माध्यम भर नहीं होती अपितु वह स्वयं यथार्थ और अनुभव का हिस्सा होती है। इस दृष्टि से कथाकार संतोष चौबे के इस उपन्यास को देखें तो पाते हैं कि उपन्यास की भाषा सत्ता की चालाकियों, भ्रष्टाचरण और काइयाँपन के साथ-साथ कार्तिक की

प्रतिबद्धता और ग्रामीण आदिवासियों की ईमानदार आपबीती को पाठकों के अनुभव में उतार देती है।

तमाम निराशाओं और संघर्ष से भरे सपनों के बीच ऐसा लगता है कि क्या कोई रास्ता शेष नहीं है? क्या सब कुछ इस ब्लैक होल में समा उपन्यास के अन्त में एक संवाद है जो ब्लैक होल से बचने का समाधान देता है। कार्तिक बताता है, ''समाधान वहाँ लौटने में है जहाँ हमें अच्छे सपने आते थे। जहाँ हम किसी भी तरह के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त थे। स्वतन्त्र थे। आखिर हमारी क्रिएटिविटी तो हमारे पास है, उसे हमसे कोई नहीं छीन सकता।'' (पृष्ठ-131) इस तरह ये उपन्यास ग्रामीण उद्यमिता का एक रोडमैप भी प्रस्तुत करता है। ग्रामीण जीवन के अन्य उपन्यासों की तरह यहाँ खेती की बात नहीं छोटे-छोटे उद्यमों की बात है और ये पूरी प्रक्रिया रचनात्मकता का आधार लिए हुए है। यह रचनात्मकता ही हमें ब्लैक होल में जाने से बचाएगी। ये जरूर है कि इस रचनात्मकता से आगे बढ़ने का सपना देखना भी आसान नहीं है, न ही उसे पूरा कर पाना। यह वास्तव में एक कठिन चुनौती है। पर उपन्यास में यह चुनौती एक सकारात्मक आशावादी द्वार खोलती है। वरिष्ठ कथाकार संतोष चौबे का यह उपन्यास इक्कीसवीं सदी के भारत के यथार्थ को सामने लेकर आता है। यह उपन्यास बताता है कि देश को कार्तिक जैसे युवाओं की जरूरत है जो सपने देखना बन्द नहीं करते अपितु अपने जैसे अनेक तैयार करते हैं जो ब्लैक होल से बचने के लिए सकारात्मक रचनात्मक सामाजिक हस्तक्षेप की रोशनी को जिलाए रखने का जज्बा रखते हैं।

मैं उनके उपन्यास से जब गुजर रही थी तो मेरे सामने सन् नब्बे के बाद का भारत था। इस भारत में सरकार ने देश की अर्थव्यवस्था में उदारीकरण को अपना कर निजीकरण को बढ़ावा देना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय यह समझाया गया था कि अब पूरी दुनिया एक विश्वग्राम बन चुकी है, इसलिए अब बन्द अर्थव्यवस्था के स्थान पर मुक्त अर्थव्यवस्था को अपनाना होगा। मुक्त अर्थव्यवस्था में बाजार भी मुक्त होगा यानी बाजार पर सरकार का नियन्त्रण नहीं होगा। बाजार माँग और पूर्ति के नियमों के आधार पर काम करेगा। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, बैंकिंग सभी में सरकारी निवेश के स्थान पर निजी निवेश को बढ़ावा दिया जाने लगा। यही नहीं सरकारी संस्थाओं में विनिवेश को एक नीति बना दिया गया, ताकि सरकारी संस्थाओं को निजी कम्पनियों को आसानी से बेचा जा सके। यह प्रचारित किया गया कि यदि अर्थव्यवस्था में चौगुना विकास करना है तो सरकार को निजी क्षेत्र के साथ मिलकर काम करना चाहिए। इससे सार्वजनिक क्षेत्रों में निजी क्षेत्र

की भागीदारी बढ़ेगी वे भी देश के विकास में भागीदार बन जाएँगे। इस योजना को प्राइवेट पब्लिक पार्टनरशिप या संक्षेप में पी.पी.पी. मॉडल भी कहा गया। इस प्रकार सरकार ने सार्वजनिक हित के अनेक क्षेत्रों को निजी हाथों में सौंप दिया। वैश्विक स्तर पर आए भूमंडलीकरण का परिणाम यह हुआ कि दुनिया भर में अमीरों की सम्पत्ति में बेतहाशा वृद्धि हुई और दुनिया भर में गरीब और गरीब हो गया यानी भूमंडलीकरण का ट्रिकल डाउन अर्थव्यवस्था का फॉर्मूला असफल हो गया। निजीकरण के बाद तमाम जनवादी शक्तियों ने सरकार की आलोचना भी की कि सरकार ने आम जनता के हितों को मुनाफाखोर पूँजीपतियों के हाथों में सौंप दिया है। दरअसल निजीकरण के पैरोकारों ने पी.पी.पी. मॉडल को जनहितकारी बताया था परन्तु यह बात इतिहास के अनुभवों से प्रमाणित हुई है। पी.पी.पी. मॉडल पूरी तरह से सफल नहीं हो सका है। यह उपन्यास देश के आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य को उसकी पूरी जटिलता के साथ बयान करता है।

यह सत्ता-व्यवस्था विकास, लोकतन्त्र, भ्रष्टाचार मुक्त भारत, समानता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व के मूल्यों का विराट आख्यान सामने रखती है। इस विराट आख्यान में देश के नागरिकों को यह बताया जाता है कि नागरिक ही इस व्यवस्था के वास्तविक नियंता हैं। यह व्यवस्था उन्हीं के द्वारा संचालित होती है, उसे भरोसा दिलाया जाता है कि व्यवस्था जनकल्याण और विकास के लिए कार्य कर रही है, परन्तु इस व्यवस्था के वास्तविक नियंता तो बड़े पूँजीपति और राजनेता हैं। वे ही व्यवस्था को चलाते हैं जो जनकल्याण के लिए चलाई जाने वाली नीतियों को अपने पक्ष में परिवर्तित करा लेते हैं।

उपन्यास एक उद्यमशील, परिश्रमी और आदर्शवादी युवक कार्तिक के सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से ग्रामीण सशक्तीकरण के एक अनूठे प्रयोग, उसके सपने, उसके धोखा खाने, उसके टूटने, बिखरने और फिर से खड़ा होने की एक प्रेरणापरक कहानी है।

❑

छल का राजनैतिक व्याकरण और 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल'

आशुतोष

हिन्दी में उपन्यासकारों और उपन्यासों की एक लम्बी श्रृंखला है जिन्होंने अपने लेखकीय अवदान से समय-समय पर हिन्दी उपन्यास को एक नयी भंगिमा दी, जिनमें लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु', प्रेमचंद का 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'गोदान', फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल', अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी', निर्मल वर्मा का 'वे दिन', कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान', अलका सरावगी का 'कलि-कथा वाया बाईपास' आदि का नाम लिया जा सकता है। इसमें और भी नाम जोड़े जा सकते हैं। पर बानगी के तौर पर यहाँ कुछ प्रतिनिधि उपन्यासकारों और उनके उपन्यासों का जिक्र किया जा रहा है जिन्होंने अपनी भिन्न कथा-भूमि, अभिव्यक्ति और शिल्प के नवाचार के साथ हिन्दी उपन्यास की विकास-परम्परा में सार्थक परिवर्तन उपस्थित किया।

हिन्दी उपन्यास में समय-समय पर प्रत्येक स्तर पर उपस्थित परिवर्तनों की इस परम्परा में एक नयी कड़ी जुड़ती है संतोष चौबे के उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' के माध्यम से। संतोष चौबे का उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' अपनी संरचना और तासीर में एक अलग ढंग का उपन्यास है।

संतोष चौबे का अनुभव जगत और तैयारी विलक्षण है। वे जीवन-जगत के उन क्षेत्रों की कथा कहते हैं जिनके सन्दर्भ में सामान्य हिन्दी पाठक लगभग अनभिज्ञ ही है। यहाँ 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' से पहले प्रकाशित उनके उपन्यास 'जल तरंग' को भी याद किया जा सकता है। 'जलतरंग' संगीत पर आधारित है। कम से कम हिन्दी में हमारी जो पढ़ाई-लिखाई है, प्रशिक्षण है उसमें संगीत और अन्य दूसरी प्रदर्शनकारी कलाओं को लेकर कितनी तैयारी है, यह किसी से कुछ छुपा नहीं है। 'जलतरंग' उपन्यास को पढ़ते समय पाठक संगीत की नयी

जानकारियों को लेकर अचरज में पड़ जाता है। ठीक इसी तरह 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' उपन्यास में संतोष चौबे ने ग्रामीण विकास, गैर-सरकारी संगठन, सरकारी नीति और परियोजनाओं को अपनी कथा-भूमि बनाया है। यह अपने स्थापत्य और कथ्य में हिन्दी उपन्यासों के अब तक के परिचित आस्वाद से भिन्न है। ग्रामीण विकास हमारे लिए एक ऐसा प्रश्न है जिसका जवाब पाने के लिए कभी कोई खास कोशिश नहीं की गई। यूँ तो भारत में योजनाबद्ध रूप से 1951 में लागू की गई पहली ही पंचवर्षीय योजना से ग्रामीण विकास पर जोर दिया जाने लगा था। पहली पंचवर्षीय योजना में मुख्य रूप से कृषि विकास पर विशेष बल दिया गया था। इसमें कृषि और सामुदायिक विकास के लिए बजट का एक बड़ा हिस्सा आरक्षित किया गया था। इसके बाद अन्य पंचवर्षीय योजनाओं में भी समानुपातिक ढंग से ग्रामीण विकास को सरकारी योजनाओं में महत्व मिलता रहा है। बावजूद इसके भारतीय ग्रामीण विकास का यथार्थ और जटिल तथा उलझता गया। कारण कि भारतीय ग्रामीण विकास के लिए जो योजनाएँ अमल में लाई गईं, उनका उत्स पश्चिमी विकास की अवधारणाएँ थीं। जैसे पहली ही पंचवर्षीय योजना में हैराल्ड-डोमर मॉडल को ग्रामीण विकास के लिए अपनाया गया था। पश्चिमी भाव और भाषा में बनी अवधारणाओं को भारतीय परम्पराओं और आवश्यकताओं के मुताबिक अनुकूलित नहीं किया जा सका। धीरे-धीरे नयी तकनीकी और बदलती संरचना के चलते भारत में ग्रामीण विकास सरकारों के लिए एक अबूझ पहेली बनता गया। संतोष चौबे का उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' ग्रामीण विकास के इसी अबूझ पहेली को बूझने और समझने का रचनात्मक उद्यम है।

गाँवों की समस्याओं और वहाँ के जीवन पर आधिकारिक तौर पर लिखने वालों में प्रेमचंद, शिवप्रसाद सिंह, रामदरस मिश्र, रामदेव शुक्ल, शिवमूर्ति, संजीव, हृषिकेश सुलभ आदि अन्यान्य लेखक हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं में अत्यन्त प्रामाणिक ढंग से गाँव और वहाँ की समस्याओं को चित्रित किया है। पर संतोष चौबे अपने इस उपन्यास में भारतीय गाँवों की सामाजिक संरचना या परिवार आदि की कथा नहीं कहते, बल्कि वे नयी तकनीकी अधोसंरचना के माध्यम से भारतीय गाँवों की आर्थिक संरचना में आए बदलावों और सरकारी नीतियों द्वारा उनके अपहरण की कथा कहते हैं। इसी बिन्दु पर 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' हिन्दी में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित करने वाला उपन्यास बन जाता है। यह बिलकुल भिन्न भावबोध का उपन्यास है जो हमारे पाठकीय संस्कारों को पुनर्नवा करता है।

पूरी कथा कार्तिक, उसके सपनों और फिर उन सपनों का एक सरकारी ब्लैक होल में समा जाने के इर्द-गिर्द रची गई है। कार्तिक एक सफल उद्यमी है। उसने भारतीय गाँवों के यथार्थ और स्वभाव को समझते हुए ग्रामीण विकास का एक सफल मॉडल विकसित किया है। जो गाँवों की जरूरतों और प्रकृति के तारतम्य में ग्रामीण युवक-युवतियों की अगुवाई में एक मल्टीपरपज केन्द्र के रूप में कार्य करता है। वह गाँवों को सूचना-क्रान्ति का वास्तविक लाभ देना चाहता है, गाँवों तक कम्प्यूटर तकनीक का विस्तार करना चाहता है, किन्तु गाँव की बोली-बानी में। अपने सीमित सामर्थ्य में करता भी है और सफल भी होता है। उसकी सफलता के किस्से चारों ओर सुने-सुनाए जाने लगे हैं। कार्तिक और उसके साथियों ने ग्रामीण विकास के लिए बिलकुल नया और समयानुकूल सपना देखा था और उसे बहुत हद तक हासिल भी किया था, किन्तु उन्हीं दिनों उसके सपनों और उसके द्वारा स्थापित ग्रामीण सूचना तकनीक केन्द्रों की शृंखला पर सरकार की नजर पड़ गई। फिर क्या था भारत सरकार के सूचना तकनीक विभाग के संयुक्त सचिव राजशेखर, उसके ही विभाग के निदेशक अशोक पाण्डेय और फिर सूचना तकनीक विभाग के सलाहकार डॉ. हरपाल त्यागी एवं मन्त्री के माध्यम से कार्तिक के पूरे प्रोजेक्ट और मॉडल को हथिया कर उसे बाहर कर दिया जाता है।

इसके बाद ही कार्तिक को बुरे सपने आने लगते हैं। वह अपने मित्र और इस उपन्यास का 'नैरेटर' अभिषेक बैनर्जी को अपने सपने के बारे में बताता है कि "मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है, जो धमन भट्ठी की तरह है जिसमें एक ओर से मनुष्य डाले जा रहे हैं, छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकला रही है— सतत् प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं कि अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती है। मेरे देखते ही देखते वह मशीन एक ऑटोमेटन में बदल गई जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस ऑटोमेटन में खींचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश, उस मशीन में डाले जाते और इधर से बंजर भूमि, सूखे, रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। अन्तत: वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में ही परिवर्तित हो गई और उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है ये दिखना बन्द हो गया।" (पृ. 130-131) जाहिर-सी बात है इतना भयानक स्वप्न है तो इसका कारण भी है। कार्तिक ने ग्रामीण विकास व सामुदायिक विकास की जो अत्यन्त समृद्ध शृंखला तैयार की थी, उसको सरकार और उसके धूर्त नौकरशाहों ने अपहरण कर लिया था। यह केवल कार्तिक के

मॉडल की चोरी नहीं थी बल्कि कार्तिक जैसे उन तमाम लोगों और नौजवानों के सपनों की डकैती थी। विडम्बना यह कि यह डकैती पूँजीपति, विश्व बैंक और भ्रष्ट नौकरशाही ने सरकारी नियमों और कायदों के सुरक्षा कवच के साथ किया था।

संतोष चौबे ने कार्तिक के माध्यम से यह बताया है कि तकनीकी के माध्यम से देश के ग्रामीण क्षेत्रों में किस तरह से आत्मनिर्भर युवा उद्यमियों को तैयार किया जा सकता है, उस प्रक्रिया का एक अनुभूत सच यहाँ दिखता है। पर सरकारी योजनाएँ और नीतियाँ कैसे बड़ी से बड़ी संरचनाओं में पलीता लगा देती हैं, उसे इस उपन्यास में अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में अवस्थी के बहाने एक और नौकरशाह राधेश्याम शर्मा और उसके द्वारा हथियाए गए एक और जन-योजना साक्षरता मिशन का भी जिक्र है। उसका भी वही अंजाम हुआ था जो कार्तिक के ग्रामीण सुविधा-केन्द्रों का हुआ। साक्षरता मिशन वाले मामले से प्राप्त अपने अनुभवों को साझा करते हुए अवस्थी कार्तिक से कहता है कि ''और तुम क्या समझते हो? सरकार कोई समाज सेवा कर रही है? पार्टनर अब सरकार ही सबसे बड़ी कार्पोरेट है। जनता का धन, उसकी मेहनत, उसकी ऊर्जा अन्ततः सरकार में या किसी बड़े कार्पोरेट में ही समाहित हो जाती है। दोनों एक ही बात है।'' (पृष्ठ : 114) अवस्थी की बातें सरकारी नीतियों और सरकार के काम-काज के तरीके पर एक कठोर किन्तु सच्ची टिप्पणी है। नीतियों और योजनाओं को लेकर नौकरशाहों का आम नजरिया क्या होता है, उसकी एक झलक मांडू से कार्तिक के ब्रेनस्टार्मिंग सेशन से लौटते हुए अशोक पाण्डेय ने अभिभूत राजशेखर से पूछा कि ''सर, क्या हम लोगों की बैठकें भी आगे इसी तरह से होंगी?'' तो राजशेखर कहता है, ''अनफॉर्च्युनेटली, नो। सरकार टेंडर और एग्रीमेंट पर चलती है। हम इस अनुभव से उतना ही लेंगे जितना हम लेना चाहते हैं।'' (पृष्ठ : 53) यह उपन्यास बहुत बारीकी से जनता और सरकार के प्रतिलोमी सम्बन्धों को उजागर करता है। कभी अब्राहम लिंकन ने लोकतन्त्र को 'लोगों का लोगों द्वारा और लोगों के लिए' शासन कहा था, पर लिंकन का वह महान स्वप्न भी लोगों द्वारा चुनी गई सरकारों के ब्लैक होल में किस तरह समाता चला जा रहा है, यह उपन्यास हर्फ-दर हर्फ इस बात की तस्दीक करता चलता है।

कार्तिक की परियोजना और मॉडल को सरकार के नौकरशाह हड़प लेते हैं और और कार्तिक ठगा-सा रह जाता है। अन्ततः उसकी इच्छा कम से कम उस हड़पी हुई सरकारी योजना में कंसल्टेंट के रूप में ही काम करने की होती पर उसकी

जगह इंटरनेशनल कंसल्टेंट रखने की बात आती है। वह इंटरनेशनल कंसल्टेंट की बात पर सोचता है कि ''हमें खुद अपने गाँवों को समझने के लिए क्यों इंटर नेशनल कंसल्टेंट की जरूरत पड़ती है? क्या हम खुद अपनी भाषा नहीं समझते? क्या हम अपनी जनता का मानस नहीं समझते? क्या हम अपनी प्राथमिक शिक्षा या प्राथमिक शालाएँ संचालित नहीं कर सकते? क्या हम अपने लोगों को साक्षर नहीं कर सकते, उनके प्राथमिक स्वास्थ्य कला ध्यान नहीं रख सकते? तो विश्व की तीसरी वैज्ञानिक शक्ति होने के हमारे दावे का क्या मतलब है?'' (पृष्ठ : 74) यहाँ कार्तिक जितने सवाल उठाता है, वे आज प्रत्येक स्वप्नदर्शी परिवर्तनकामी युवा के सवाल हैं। उन सवालों का स्वाभाविक जवाब सकारात्मक ही है, किन्तु इन्हें सरकार, नौकरशाही, कार्पोरेट, विश्वबैंक और आवारा पूँजी के संयुक्त परिवार ने हमारी दुनिया से लगभग बेदखल कर दिया है। सरकारों द्वारा आरोपित इस बेदखली का दायरा बहुत व्यापक है। बल्कि उसका स्वरूप रोज-ब-रोज बढ़ रहा है। अब सरकारें अपने पसन्द की जनता चुनने से बहुत आगे निकल आई हैं। अब वे अपने पसन्द के कार्पोरेट और पूँजी पर फिदा हैं। संतोष चौबे कार्तिक के बहाने सरकारी अस्वीकार और शोषण का किस्सा कहते हुए प्रसंगवश नक्सल समस्या पर भी बात करते हैं। वह भी प्राथमिक स्रोतों के हवाले से। जगदलपुर के क्षेत्र में कार्तिक द्वारा चलाए जा रहे केन्द्रों के काम-काज देखने आए त्यागी से नक्सल समस्या पर बात करते हुए कार्तिक कहता है कि ''असल में आज हम जिसे नक्सलवाद कहते हैं, वह चारु मजूमदार के समय से बहुत आगे आ चुका है। चारु मजूमदार ने जमींदारों के गोदामों पर हमला किया था कि उनके अनाज को गरीबों में बाँटा जा सके। वहाँ से लड़ाई ज्यादा बड़े संसाधनों तक पहुँच गई है। अगर जल, जंगल और जमीन, जिन पर आदिवासी निर्भर करते हैं, को सरकार छीने तो उसे उसके जीवन की वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में सोचना चाहिए।'' (पृष्ठ : 97) यहाँ देखा जा सकता है कि कार्तिक के पास बड़ी से बड़ी समस्याओं का बहुत ही व्यावहारिक और सहज समाधान है। विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक समस्याओं के सन्दर्भ में कार्तिक जैसा समाधान वही प्रस्तुत कर सकता है जिसका जमीनी हकीकतों से परिचय हो। सरकारों के पास ऐसे समाधान नहीं हैं। जाहिर है कि जनता द्वारा चुनी हुई सरकारों का जनता से ही कोई जमीनी परिचय नहीं है। आज सरकारें खुद अपनी ही जनता और जनता के जीवन को अबूझ सांख्यिकी द्वारा प्रदत्त भ्रामक डेटा से समझती हैं।

कार्तिक के लिए ग्रामीण भारत, वहाँ के लोग, वहाँ की जरूरतें एक अनुभूत

सत्य की तरह है। उसने चीजों को उनके वास्तविक परिस्थिति में, उनके भूगोल में जाकर समझा है। इसीलिए ग्रामीण विकास में टेक्नोलॉजी की उपयोगिता पर वह त्यागी से कहता है कि "असल में हम टेक्नोलॉजी को समाज से विच्छिन्न कोई चीज मानते हैं तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता। लेकिन अगर हम समाज को साथ लेकर चलें तो वह उसे गहराई से अपनाता है। इसके लिए आपको सामाजिक परम्पराओं के साथ-साथ चलना होगा।" (पृष्ठ : 90) कार्तिक ने ग्रामीण विकास, लघु उद्यमों का निर्माण और 'माइक्रो रूलर आंत्रप्रेन्योर्स' की पूरी एक स्वाभाविक शृंखला तैयार करने फर्स्टहैण्ड अनुभव है इसीलिए इस सन्दर्भ में उसका आत्मविश्वास प्रबल है। कह कहता है कि "ये गलतफहमी है कि पहले पैसा आता है, फिर विचार। असल में अगर विचार अच्छा हो तो पैसा अपने आप आता है।" (पृष्ठ : 55)

कार्तिक एक व्यावहारिक स्वप्नदृष्टा है। उसके स्वप्न आदर्श और समानता की नयी दुनिया को लेकर हैं। वह तकनीकी की क्षमताओं से परिचित है और उसे ग्रामीण भारत की प्रगति का वाहक बनाना चाहता है। इसमें वह सफल भी है, किन्तु सरकार की नीतिगत दरिद्रता और धूर्त नौकरशाही ने अत्यन्त चालाकी से कार्तिक की सफल योजनाओं को अपना बनाकर हाईजैक कर लिया। हुआ वही जो सरकारी योजनाओं का होता है। कार्तिक जैसे जन उद्यमी द्वारा चलायी जा रही ग्रामीण विकास की वह महान योजना राजशेखर और त्यागी जैसी सरकारी आँखों के शनिचर में कहीं बिला गया। इस तरह यह उपन्यास अपने नवीन कथा-भूमि के साथ हिन्दी उपन्यास को विशिष्ट अर्थों में आधुनिक तो बनाता ही है साथ ही हिन्दी उपन्यास की धारा में एक नयी लीक भी गढ़ता है।

'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' उपन्यास के नवाचार में कथ्य की उपर्युक्त नवीनता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी हैं जो इसे खास बनती हैं। जैसे इसमें रक्त सम्बन्धों से निर्मित परिवार की कथा नहीं है। उपन्यास के अधिकांश पात्र जैसे रघुनाथ, रामन, नंदिता, अवस्थी हों या कार्तिक की प्रेरणा से संचालित ग्रामीण सुविधा-केन्द्रों के संध्या, रामकिशुन चौधरी, मोहन मरकाम, रवि, मनीष, वीरविक्रम सिंह, पुष्पेन्द्र, रेख रघुवंशी, नारायण परमार, जगदीश पटेल, शशि, अनूप, लक्ष्मैया वासम, कुडेम, भीमैया, मुरा राम पत्तीराम पोडियाम, कहारू कोर्राम, सकालू, सोनी मरकाम, समारू बघेल, बुधराम आदि हों, इनमें से किसी का किसी से कोई रक्त सम्बन्ध नहीं है, पर ये सब आपस में एक विकसित और प्रगतिशील मनुष्यता के ताने-बाने से जुड़े हैं। इनमें एक चीज जो कॉमन है, वह यह है कि ये सारे के सारे

लोग स्वप्नदर्शी हैं। इन्होंने एक साथ मिलकर आत्मनिर्भर ग्रामीण भारत का एक साझा सपना देखा और उसे पूरा करने की अनिवार्यता के चलते एक साथ आ गए थे। इनकी इस 'इमोशनल बॉन्डिंग' को त्यागी जैसा चतुर व्यवहारवादी भी रेखांकित करते हुए कहता है कि ''फ्रेंचाइजी के साथ मैंने इस तरह की रिलेशनशिप पहली बार देखी है।'' (पृष्ठ : 90) हिन्दी उपन्यासों की अब तक की यात्रा देखें तो उनमें किसी न किसी रूप में रक्त-सम्बन्धों पर आधारित परिवार का अस्तित्व रहता आया है। पर 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' उपन्यास में संतोष चौबे ने अपनी अभिनव कथा-युक्ति से एक 'इक्स्टेंडेड फैमली' की अवधारणा को हमारे सामने रखा है। इसमें रक्त-सम्बन्धों के बोझ की जगह रिश्तों की रवानी है, प्रारब्ध के स्थान पर परिवर्तन और मुक्ति की आकांक्षा है। पारिवारिक अधिकारों की अपेक्षा स्वप्नों की साझेदारी है। कार्तिक का यह परिवार रिश्तों के नामरूप के स्थान पर विकसित होती मनुष्यता का उज्ज्वल स्वरूप है। परिवार की ऐसी संरचना और इसकी वैचारिक अवस्थिति मेरे जानते हिन्दी उपन्यास में पहला और नया है। दूसरे यह भी कि इसमें कोई प्रेम कहानी नहीं है और न ही कोई नायिका है। इस लिहाज से भी इस उपन्यास को संतोष चौबे के एक साहसिक रचनात्मक प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए है। हिन्दी उपन्यासों के लिहाज से अपारम्परिक कथा-भूमि की उपलब्धता और पारम्परिक परिवार एवं प्रेम की अनुपलब्धता के साथ इस तरह के पठनीय एवं तार्किक कथा-संरचना से निश्चित ही हिन्दी में एक नये सामाजिक-राजनैतिक-अर्थशास्त्र से अनस्युत उपन्यास-धारा का आगाज हुआ है।

हमारी दुनिया में फैलते जा रहे शोषण के मकड़जाल को संतोष चौबे अपने उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' में नये स्वप्न-शिल्प के माध्यम से हमारे सामने रखा है। कार्तिक जान गया है कि दरअसल सबसे बड़ा ब्लैक होल सरकारी नीतियाँ, सरकारों की मंशा और नौकरशाही का त्रिगुट है। कार्तिक और उसके साथी आमजन के स्वप्नों के उस भयानक सरकारी लूट से आहत हैं पर पराजित नहीं हुए हैं। नन्दिता कहती है कि ''समाधान वहाँ लौटने में है जहाँ हमें अच्छे सपने आते थे। जहाँ हम किसी भी तरह के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त थे। स्वतन्त्र थे। आखिर हमारी क्रिएटिविटी तो हमारे पास है, उसे हमसे कोई नहीं छीन सकता।'' (पृष्ठ : 131) देख सकते हैं कि सरकार, कार्पोरेट, नौकरशाही और अवारा पूँजी की तमाम दुरभिसंधियों और ख्वाबों की इस आजमाइश में कार्तिक और उसके साथियों के ख्वाबों का पलड़ा भारी है, यही इस उपन्यास का मूल-कथ्य है।

इसीलिए 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' उपन्यास आम आदमी की, ग्रामीण विकास के निर्दोष स्वप्नों का अराजक और मायावी सरकारी ब्लैक होल में समा जाने की कथा तो है ही, मगर उपन्यासकार की विलक्षण कथा-युक्ति में यहाँ यदि 'ब्लैक होल' है, तो सपने भी हैं। ब्लैक होल की नियति है कि वे सपनों को निगल तो सकते हैं पर खुद कोई सपना नहीं देख सकते। यही उनकी सीमा है। अन्ततः उपन्यासकार ने 'ब्लैक होल' के सर्वग्रासी अराजक कुनबे के बरक्स सपने देखने वालों और उनके सपनों की आत्मजयी दुनिया की जिजीविषा को रेखांकित किया है। संतोष चौबे का यह नवाचारी उपन्यास समय के पृष्ठ पर सृजनात्मकता का उज्ज्वल हस्ताक्षर की तरह है। उन्होंने अपने मुआसरत समय को बड़े ही शफ्फाफ ढंग से दर्ज करते हुए हिन्दी उपन्यास के म्यार को समृद्ध किया है।

❑

सपनों की दुनिया में अब अंधेरा ही अंधेरा है

उमा शंकर चौधरी

यह बहुत दिलचस्प है कि साहित्य जितना यथार्थ से जुड़ा होता है उतना ही वह स्वप्नशील भी होता है। वहाँ सपनों और ख्वाबों के लिए एक खास जगह होती है। साहित्य अपनी प्रगतिशील सोच के साथ परिवर्तन कर पाये या न कर पाये, परन्तु वह परिवर्तन का ख्वाब अवश्य बुनता है। यह कहा जा सकता है कि साहित्य अपने स्वभाव में स्वप्नदर्शी होता है। वह अपने सपनों के मार्फत समाज के हाशिए के लिए एक वैकल्पिक दुनिया तैयार करता है जो तमाम अन्तर्द्वन्द्वों से मुक्त हो। एक ऐसा समाज जो आदर्श हो और यह सत्य है कि आदर्श समाज हमेशा समाज का स्वप्न ही होता है।

आजादी के बाद के भारत में इस सपने पर बहुत बात की गयी है। आधुनिक भारत ने पहली बार अपने लिए सपना बुनना सीखा था। लोकतन्त्र का सपना। आधुनिकता और राष्ट्र का पूरा विचार इसी स्वप्न पर ही टिका हुआ है। इसी स्वप्न ने राष्ट्र और राष्ट्रवाद को हमारे भीतर जन्म दिया है। अपने राष्ट्र का स्वप्न इतना बड़ा था कि उसने एक पूरी बिखरी हुई भीड़ को राष्ट्र में रूपान्तरित कर दिया। अपने राष्ट्र को अपना महसूस करने की जो भावना थी उसने लोगों के बीच एक खास तरह की तरंग पैदा कर दी। पहली बार लोगों को यह अहसास हुआ कि वह अब एक ऐसे राष्ट्र को वे अपने हाथों से बनाने जा रहे हैं जो उनका अपना होगा, जिसके निर्णायक वे स्वयं होंगे। उनका अच्छा-बुरा सब उनका अपना होगा। लोकतन्त्र की परिभाषा वास्तव में इतनी भावनात्मक है कि वह लोगों के रोंगटे खड़े कर दे। लेकिन आजादी ने उस स्वप्न को ध्वस्त न भी किया हो तो कम से कम उसे सन्देह के घेरे में तो ला ही दिया है। आजादी की जो यह जादुई रेखा है वह जादुई ही होकर रह गयी है। इस जादुई रेखा के इस पार और उस पार कोई खास परिवर्तन का नहीं होना ही इस स्वप्न को नष्ट करता है। आम आदमी, जो इस बड़े

से स्वप्न के साथ जीवन को जीना चाह रहा था उसके जीवन में इस आजादी ने एक निराशा पैदा कर दी। उसके जीवन में जब कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ तो वह रिक्त हो गया, क्योंकि जिस स्वप्न के सहारे वह अब तक जीवन जीये जा रहा था अब वह स्वप्न भी अब उसके पास नहीं रह गया था। स्वप्न बड़ा था तो उसके टूटने की आवाज भी बड़ी थी।

यह भी बहुत दिलचस्प है कि साहित्य ने अपने यहाँ स्वप्न को जगह दी तो स्वप्न के टूटने की ताकीद भी सबसे पहले उसने ही ली। इसी हिन्दी साहित्य ने स्वतन्त्रता संग्राम के समय राष्ट्रभक्ति को अपना सबसे प्यारा और जरूरी विषय बनाया। यहाँ से वहाँ तक अलग-अलग रूपों में राष्ट्रभक्ति को जगह दी गयी। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने 'प्रिय प्रवास' में तो माखनलाल चतुर्वेदी ने 'पुष्प की अभिलाषा' में राष्ट्र को सर्वोपरि माना। 'राम की शक्ति पूजा' से लेकर छायावादी कविता का मूल विषय ही प्रकारान्तर से राष्ट्र को अपने केन्द्र में लेकर चला। यहाँ राष्ट्र केन्द्र में है तो राष्ट्र को लेकर स्वप्न भी केन्द्र में है। राष्ट्र को लेकर ख्वाब केन्द्र में है। परन्तु आजादी के उपरान्त यही स्वप्न जब टूटता है तो उसे भी साहित्य ने अपने यहाँ बहुत शिद्दत से जगह दी है। आजादी के मात्र सात वर्ष उपरान्त प्रकाशित 'मैला आँचल' ने आजादी की इस जादुई रेखा के इस पार और उस पार को बहुत बारीकी से देखा। क्या फर्क पड़ा? कुछ भी तो नहीं। अन्दर से समाज तो वैसा का वैसा ही रहा। आम लोगों का जीवन बद से बदतर ही हुआ। ऐसा लगता है कि 'मैला आँचल' ने भारतीय समाज के एक गाँव को अपना प्रतिनिधि बनाकर उसके ऊपर एक कैमरा लगा दिया हो। एक लेखक के रूप में रेणु यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि इस आजादी के बाद सीधे-सीधे आम व्यक्ति के जीवन पर क्या फर्क पड़ा। परन्तु इस निश्चय में उन्हें निराशा हाथ लगी। स्वतन्त्र भारत की सबसे बड़ी विडम्बना यह रही कि आजादी के महज चन्द महीनों के बाद ही गाँधी की हत्या हो गयी। 'मैला आँचल' इन सभी बातों को अपने यहाँ दर्ज करता है। 'मैला आँचल' अपने स्वरूप में बहुत वाचाल होकर कुछ नहीं कहने वाला उपन्यास है परन्तु वह चुपके से इस आजादी पर सवाल खड़े कर देता है और तब समझ में आता है कि महज सात वर्षों में ही इस आजादी के मर्म को एक साहित्यकार ने कैसे समझ लिया। इस उपन्यास के माध्यम से रेणु स्वप्न को ध्वस्त होते ही देख रहे थे। रेणु आम आदमी के सपने का हिसाब जोड़ना चाह रहे थे। तो कुल मिलाकर बात यह है कि साहित्य में सदा से स्वप्न पर बहुत बातें होती रही हैं या तो स्वप्न के पलने की बातें या फिर स्वप्न के दरकने की बातें।

क्रान्तिकारी कवि पाश ने जब यह लिखा कि सबसे खतरनाक है सपनों का मर जाना, तब हमें समझना होगा कि यह आजादी के कुछ बरसों बाद की स्थिति है। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ सपना मरा नहीं है, मरने की आशंका है। आजादी के बाद की निराशा ने ही इस आशंका को जन्म दिया था। यह हमें समझना होगा कि सपनों के मर जाने में उदासनीता है, परन्तु वह बेबसी नहीं, जहाँ सपने अपने ही नहीं रह गये हों। यह हमें समझना होगा कि साहित्य ने हमेशा सपनों के सृजन और उसके मर जाने का पीछा किया है। सपनों के मर जाने से लेकर सपनों में ब्लैक होल तक का सफर सिर्फ साहित्य का सफर नहीं है, बल्कि यह हमारे समाज का भी सफर है और यह हमारे समाज की नियति भी है। संतोष चौबे का उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' उसी साहित्य में सपनों की बातें करने की कड़ी में अगला पड़ाव है। यहाँ सपनों का मर जाना नहीं है। सपनों का बिखर जाना या खत्म हो जाना भी नहीं है, बल्कि यहाँ सपनों की दुनिया में ब्लैक होल है। ब्लैक होल यानी एक अंधेरी दुनिया। यह अंधेरी दुनिया एक रहस्य की तरह है। सपनों की दुनिया में अंधेरा भी कहा जा सकता था परन्तु यह ब्लैक होल इस अंधेरे से आगे की बात है। अंधेरे में स्पष्टता है। अंधेरा यानी सपनों के मर जाने की आशंका। सपना जब मरेगा तो सपनों को मारने वाला भी होगा। यह उपन्यास हमारे सामने जिस समय-समाज को प्रस्तुत कर रहा है वहाँ सपनों को मारने वाला कौन है? वह सरकार, जिसे इस लोकतन्त्र में हमने ही चुना है।

समाज के विकास का एक क्रम है और इस क्रम की शुरुआत होती है आम आदमी की उस मन:स्थिति से जहाँ मध्यकालीन बोध के साथ वह सो रहा था। फिर उस आदमी को आधुनिक बोध के साथ जगाया गया। उसे सपने दिखलाये गये। उसके सपनों को विस्तार दिया गया। सपना पूरा हुआ और फिर कुछ दिनों में सपने बिखरने लगे। जिस लोकतन्त्र की बहाली हुई, उसमें आम आदमी ने अपने हाथों से सरकार को चुना। एक लोक-कल्याणकारी राष्ट्र का निर्माण हुआ। इस लोक-कल्याणकारी राष्ट्र से जितनी अपेक्षाएँ थीं वे पूरी नहीं हुईं तो सपने बिखरने लगे। धीरे-धीरे इस लोकतान्त्रिक सरकार ने पूँजीपतियों से साँठ-गाँठ कर ली और धीरे-धीरे लोक-कल्याणकारी राष्ट्र की उसकी पूरी इमेज ध्वस्त होने लगी। पूँजीपतियों ने निर्णय लेने शुरू किये या फिर निर्णय पूँजीपतियों के हितों को ध्यान में रखकर लिये जाने लगे। फिर ठीक पाश की कविता की माफिक सपनों के मरने की आशंका सामने आ गयी। वक्त गुजरा और लोगों ने फिर से उठकर सपने देखने शुरू किये। अपने अनुसार उन्होंने सपने तैयार किये इस समाज को निर्मित करने

के लिए। परन्तु तब तक देर हो चुकी थी। सत्ता और पूँजीपतियों के बीच की गठजोड़ ने सारे संसाधनों पर तब तक कब्जा कर लिया था। किसी आम आदमी ने अपने सपनों के मार्फत से इस समाज को सँवारना भी चाहा तो उनके उन सपनों के सामने सरकार अवरोध बनकर आकर खड़ी हो गयी। यह बात बहुत दीगर थी कि आम आदमी के द्वारा देखे गये सपनों के केन्द्र में आम आदमी ही थे इसलिए इन सपनों को नष्ट करने में तन्त्र ने बहुत ही बड़ी भूमिका निभायी। उन्होंने साफ-साफ यह नहीं कहा कि वे आम आदमी को सपना देखने की इजाजत नहीं दे सकते। परन्तु उन्होंने उन सपनों को बिखेर देने में कोई कोर-कसर भी नहीं छोड़ी। आम आदमी अपने सपनों को लेकर उलझन में रहा कि उसके पास अब कोई सपना है भी या नहीं। यहाँ सारी चीजें गड्डमड्ड हैं।

उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' एक जादुई यथार्थ को गढ़ता है। यहाँ जो सपने में ब्लैक होल है उसे जादुई होना पड़ा क्योंकि यह यथार्थ इतना कठिन, उलझा हुआ और इतना निराशाजनक है कि इसे बगैर जादुई हुए दिखलाया नहीं जा सकता। कार्तिक एक जिम्मेदार नागरिक है जिसे यह अहसास है कि इस लोकतन्त्र में सरकार ने, तन्त्र ने अपनी जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ लिया है। जिस लोकतन्त्र की आत्मा को गाँवों में आम आदमी के लिए धड़कना चाहिए था उस लोकतन्त्र ने अपने आप को सिर्फ पूँजीपतियों के हितों तक सीमित कर लिया है। तब ऐसे में कार्तिक-जैसा जिम्मेदार व्यक्ति बगैर किसी शिकायत के हाशिये पर पड़े हुए इन लोगों के हितों के लिए काम करने को खड़ा होता है। परन्तु यह तन्त्र इतना भी कम निरंकुश नहीं है कि कोई एक व्यक्ति उसके बदले इस जिम्मेदारी को निभा ले। यह भ्रष्ट तन्त्र इस पूरी प्रक्रिया में भी अपना और अपने साथ के पूँजीपतियों का हित देखता है। कार्तिक अपने मित्र अभिषेक से कहता है कि "जानी-बूझी बात है कि सपने किसी व्यक्ति की अधूरी आकांक्षाओं का प्रतिफलन होते हैं।" यहाँ किसी व्यक्ति की ही नहीं, पूरे आवाम की अधूरी आकांक्षाओं का सवाल है। आकांक्षाएँ जो थीं उस पर यह लोक-कल्याणकारी राष्ट्र खरा नहीं उतरा तो ये आकांक्षाएँ अधूरी रह गयीं। अधूरी आकांक्षाओं ने सपनों को जन्म दिया।

कार्तिक एक सामाजिक उद्यमी है और वह चाहता है कि ग्रामीण समाज को इस यान्त्रिक विकास का लाभ मिले। वह जानता था कि ग्रामीण भारत की बहुत सारी समस्याओं का निदान इस इन्फॉर्मेशन टेक्नोलॉजी के ज्ञान में छुपा है। यह टेक्नोलॉजी ग्रामीण भारत को साक्षर भी बनायेगी और उसे अपने हितों के लिए जागरूक भी बनायेगी। कार्तिक का स्वप्न है कि जागरूक ग्रामीण भारत इस तरह

आत्मनिर्भर बने। यहाँ ग्रामीण भारत को आत्मनिर्भर बनाने का जो स्वप्न है वास्तव में उसे अवसर के विकेन्द्रीकरण से सम्भव करने का प्रयास है। यह विकेन्द्रीकरण विकास की असमानताओं को समाप्त करेगा और समाज में समरसता लाने की कोशिश करेगा। विस्थापन को रोकेगा और कम से कम एक बड़े वर्ग को मूलभूत आवश्यकताओं के लिए सरकार के सामने हाथ नहीं फैलाने देगा। इस तरह देखा जाये तो वास्तव में यह आत्मसम्मान और स्वाभिमान की लड़ाई है। आत्मसम्मान की इस लड़ाई में लोकतान्त्रिक राष्ट्र के तन्त्र को लड़ना चाहिए था, परन्तु अब यह अधूरी आकांक्षा आम आदमी के हिस्से आ गयी है। गहराई से सोचें तो एक लोकतान्त्रिक राष्ट्र की सरकार को विकास के बारे में ऐसा ही सोचना चाहिए। कम से कम ऐसे राष्ट्र में तो अवश्य जहाँ इतनी बड़ी आबादी गाँव में रहती है और जहाँ गरीबी का प्रतिशत इतना अधिक है। जो काम एक चुनी हुई सरकार को करना चाहिए था; वह एक व्यक्ति, एक संस्था को अपने निजी प्रयास से करना पड़ रहा है और विडम्बना यह है कि जिस काम को नहीं करने के लिए सरकार को शर्मिंदा होना चाहिए था, उस काम के लिए सबसे बड़ी बाधा यह पूरी व्यवस्था ही बन रही है।

कार्तिक अपने आप में एक संस्थान की तरह यहाँ कार्य कर रहा है। वह जानता है कि अगर गाँवों को आत्मनिर्भर बनाना है तो उसे रोजगार के अवसर मुहैया करवाना होगा, परन्तु वह यह भी जानता है कि किसी भी रोजगार को गाँव में सफलतापूर्वक चला ले जाना आसान नहीं है इसलिए वह यहाँ के लिए मल्टीपरपज बिजनेस का आइडिया लेकर आता है। वह राजशेखर, ज्वाइंट सेक्रेटरी को समझाता है कि सरकार गाँवों को समझती ही नहीं है। अगर वह गाँवों को समझती तो गाँवों के लिए, रोजगार के अवसर के लिए, वह गाँवों की भाषा को प्राथमिकता देती। परन्तु ऐसा है नहीं। कार्तिक एक लघु उद्यमी को यह विचार देता है कि एक ही दुकान पर वह कई प्रकार के काम करे और थोड़ा-थोड़ा कर सभी से धन का उपार्जन करे। यह विचार बहुत सफल होता है और सफल इतना कि सरकार इसे अपनाने को मजबूर हो जाती है। यह एक व्यक्ति के निजी प्रयास से किया गया बदलाव है जो निस्सन्देह आमूलचूल परिवर्तन लाने वाला है, परन्तु यहाँ विडम्बना यह नहीं है कि सामाजिक सुधार के ये सारे प्रयास व्यवस्था के द्वारा होने चाहिए जो नहीं हो रहे हैं बल्कि विडम्बना यह है कि जो सुधार निजी प्रयास से भी हो रहे हैं, उन्हें यह व्यवस्था उड़ा ले जाती है और उसे एक तरीके से बर्बाद कर देती है।

यह उपन्यास लोकतन्त्र की इस त्रासदी को व्यन्जित करना चाहता है कि हमारा समाज उस जगह जाकर फँस गया है जहाँ सरकार ने एक लोकतान्त्रिक राष्ट्र के होने से तो अपना पीछा छुड़ा ही लिया है, बल्कि वह समाज सुधारीकरण के खिलाफ भी खड़े हो जा रहा है और यह कोई इस सरकार, उस सरकार की प्रवृत्ति का सवाल नहीं है बल्कि इसके पीछे मुनाफा कमाने की एक पूरी सोच है। एक पूरी योजना है। एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना। यान्त्रिक विकास से ग्रामीण समाज बहुत आरामदेह नहीं होता है यह सरकार का बचने का एक बहाना होता है। परन्तु कार्तिक कहता है ''असल में अगर हम टेक्नोलॉजी को समाज से विच्छिन्न कोई चीज मानते हैं तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता। लेकिन अगर हम समाज को साथ लेकर चलें तो उसे गहराई से अपनाता है। इसके लिए आपको सामाजिक परम्पराओं के साथ-साथ चलना होगा।'' वास्तव में समाधान सभी समस्याओं का है, परन्तु कोई निकालना चाहे तब तो। सरकार एक एजेन्ट की तरह काम कर रही है। सरकार के नुमान्इदे के रूप में राजशेखर कार्तिक के पूरे आइडिया को चुरा लेते हैं और कार्तिक के विरोध करने पर उसके सामने तनकर खड़े भी हो जाते हैं। सरकार का बचाव करते हुए राजशेखर साफ कहते हैं– ''आपके आइडिया पर कोई पेटेन्ट तो है नहीं। अब वह पब्लिक डोमेन में आ गया है। प्रोजेक्ट भारत सरकार का है और वर्ल्ड बैंक फंडेड है तो हमें कंसल्टेंट भी वही लेना होगा जो वर्ल्ड बैंक सुझायेगा।'' और फिर वर्ल्ड बैंक के प्रवेश करते ही इस पूरी योजना को इतना अव्यावहारिक बना दिया गया कि वह योजना अब सिर्फ कागजों पर ही सफलता के झंडे गाड़ सकती थी।

आजकल जब राजनीतिक उपन्यास बहुत कम लिखे जाते हैं तब इस उपन्यास का स्वागत इसलिए होना चाहिए कि यह एक घोर राजनीतिक उपन्यास है। एक ऐसा राजनीतिक उपन्यास जहाँ राजनीति का जिक्र कहीं नहीं है। कोई शोर-शराबा नहीं है। कोई हो-हल्ला नहीं है। कोई विरोध नहीं है। कोई नकारात्मकता नहीं है। यह उपन्यास अपने कलेवर में धीमे-धीमे चलते हुए पूरी व्यवस्था का काला चिट्ठा खोल देता है। यह जो पीपीपी मॉडल है, जहाँ विकास के लिए सरकार और निजी संस्था साथ मिलकर काम करना चाहती है, मेरी जानकारी के अनुसार इस विषय पर यह अकेला उपन्यास है। उपन्यास में इस मॉडल को आधार बनाकर आजादी के बाद के भारत के विकास की पूरी लचर संरचना को सामने रख दिया गया है। कोई शोर-शराबा नहीं है, परन्तु विकास को लेकर सरकार की पूरी मंशा यहाँ खुलकर सामने आ जाती है। उपन्यास बहुत वोकल होकर कुछ भी नहीं कहता

है, परन्तु उसके केन्द्र में आजाद भारत की ऐसी तस्वीर है जिसे पढ़े और समझे बिना आजाद भारतीय परिवेश को समझा नहीं जा सकता है। इतिहास सिर्फ और सिर्फ उन आँकड़ों को हमारे सामने रखता है जो कागजों में दर्ज हैं। उन योजनाओं की वास्तविक हकीकत क्या है, उसे सिर्फ साहित्य के मार्फत से ही समझा जा सकता है। अपनी इसी विशेषता के कारण साहित्य समानान्तर इतिहास कहलाता है। यह तस्वीर यह बतलाने की कोशिश है कि यह जो पूरी व्यवस्था है वह इस समाज के हित में कुछ तो नहीं ही करना चाहती है और कोई करने के लिए खड़ा भी होता है तो उसे बर्बाद कर दिया जाता है। त्यागी और राजशेखर मिलकर कार्तिक की पूरी योजना को हथिया लेते हैं और उसे सरकार के हित में मोड़ देते हैं। कार्तिक का दोस्त अवस्थी भुक्तभोगी है, इसलिए कहता है– ''पार्टनर दिस इज द बिगनिंग ऑफ द एंड! ये तुम्हारे पीपीपी के खात्मे की शुरुआत है।'' इस पूरी पीपीपी की व्यवस्था को ऐसे खत्म नहीं किया गया कि कोई सिर उठा ले बल्कि ढेर सारी शर्तों को सामने रखकर उन लघु उद्यमियों पर पेनल्टी भी लगायी गयी। अब हालत यह हो गयी कि सारे उद्यमी न केवल अपने रोजगार को बन्द करने को मजबूर हो गये, बल्कि अपनी जान बचाने को तरसने लगे। 'तो हालत अब यहाँ तक आ गयी थी। उन सभी स्वाभिमानी और रचनात्मक उद्यमियों को पी.पी.पी. ने याचक बना दिया था।' उधर सरकार एक तरफ हजार करोड़ वर्ल्ड बैंक से ले चुकी थी और दूसरी तरफ 'अब देश-भर की लगभग 1,00,000 पंचायतों तक सरकार सीधे पहुँच सकती थी और मन्त्री जी उन तक सीधे कनेक्ट हो सकते थे।'

कार्तिक का दोस्त अवस्थी सर्व शिक्षा अभियान से जुड़े अपने अनुभव को सुनाता है कि कैसे उसके सारे प्रयास को सरकार ने जबरन लूट लिया था और उसके नाम पर सरकार ने वर्ल्ड बैंक से कितने पैसे खाये। सारे हित सधने के बाद किस तरह उसे भी बाहर फेंक दिया गया था। जो व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनकर समाज के हित के लिए काम करना चाहता है उसकी पूरी योजना को सरकार अपने हक में भुना लेती है। अवस्थी की इस पंक्ति में पूरे उपन्यास का निचोड़ है– ''पहले वह आन्दोलन था, अब वह परियोजना बन गयी।'' उसके परियोजना बनते ही 'सरकार ने वर्ल्ड बैंक से ढेर सारा पैसा लिया। उसे सरकारी तौर पर कलेक्टरों को सौंप दिया गया। उन्होंने उसे 'सरकारी' रूप में खर्च किया। अन्त में पूरी परियोजना की हवा निकल गयी।' आजादी का स्वप्न इस आन्दोलन से जुड़ा था। लेकिन आजादी के स्वप्न ध्वस्त इस तरह हुए कि आन्दोलन अब परियोजना में तब्दील हो गये। जिस सरकार को समाज सेवक होना चाहिए था वह

अब खुद कॉर्पोरेट है। अवस्थी कहते हैं– ''सरकार कोई समाज-सेवा कर रही है? पार्टनर, अब सरकार ही सबसे बड़ी कॉर्पोरेट है। जनता का धन, उसकी मेहनत, उसकी ऊर्जा अन्ततः सरकार में या किसी बड़े कॉर्पोरेट में ही समाहित हो जाती है।''

इतिहास में जो भी राजनीतिक उपन्यास सफल हुए हैं, वे अपनी प्रवृत्ति में भले ही राजनीतिक हुए हों परन्तु वहाँ राजनीति अलग गहराई में जाकर होती है। इस उपन्यास को पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे यहाँ बुरा पक्ष राजशेखर या त्यागी है। जबकि ऐसा है नहीं। राजशेखर या त्यागी तो सिर्फ मोहरा-भर हैं। यह पूरी व्यवस्था सड़ चुकी है। पूरी व्यवस्था लोकविमुख हो चुकी है। उसकी सोच का फोकस ही बदल गया है। राजनीति में जो विचारशून्यता लगातार विकसित हुई है यह उपन्यास उसी का प्रतिफलन है। इसी विचारशून्यता ने राजनीतिज्ञों के भीतर भौतिक सुख को सर्वोपरि बना दिया है। सारी नृशंसताएँ यहीं से उपजती हैं। नृशंसता की हद यह है कि जो सामाजिक कार्य खुद सरकार को करना चाहिए था उसके लिए वह आम आदमी, जो तमाम तरह की सुविधाओं से हीन हैं, के जीवन को उलझा देती है। हालत यह हो जाती है कि वे अपने आप को इस मुसीबत से बचा लें, यही बड़ी बात हो जायेगी।

यह राजनीतिक उपन्यास है और उपन्यास चाहे राजनीतिक हो या साम्प्रदायिक या बाजारवाद के खिलाफ, वह उसको प्रस्तुत करने के लिए एक कथा बुनता है। उस कथा के सहारे वह उसकी विडम्बना, दोहरापन, अन्तर्द्वन्द्व को दिखलाता है। 'मैला आँचल' में एक कथा है, तमस में एक कथा है आदि-आदि। लेकिन यह उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' किसी कथा का सहारा नहीं लेता है यह अपने आप में ही मुकम्मल है। यहाँ जो कथा है वही विषय है। उसी को प्रस्तुत करने का ही उद्देश्य है। लोकतन्त्र और सरकार के मार्फत लोकतन्त्र की विफलताओं को दिखलाने के लिए यहाँ किसी कथा का सहारा नहीं लिया गया है, बल्कि खुद एक तरफ आम आदमी का प्रतिनिधि कार्तिक है और दूसरी तरफ सरकार का नुमाइंदा राजशेखर और त्यागी। ऐसा लगता है जैसे यह कोई कहानी नहीं है बल्कि हकीकत है। ऐसा लगता है जैसे इस उपन्यास में लोकतन्त्र की रपट लिखी जा रही हो और लोकतन्त्र की रपट है तो यह बहुत सुखद और दिलचस्प है कि यहाँ सुखान्त है। संघर्ष खत्म नहीं होता है परन्तु उम्मीद भी मरती नहीं है। पूरी परियोजना को जब सरकार के द्वारा उड़ा लिया जाता है और कार्तिक, जो दस वर्षों तक इस परियोजना के पीछे था, को बाहर कर दिया जाता है तब कुछ क्षण

के लिए कार्तिक निराशा की गर्त में चला जाता है। फिर इस कहानी में सपने का प्रवेश होता है और उस निराशाजनक सपने के बाद आशा की एक किरण दिखती है। निर्णय लिया जाता है कि ''आखिर हमारी क्रिएटिविटी तो हमारे पास है, उसे हमसे कोई नहीं छीन सकता।'' यह उपन्यास का बहुत मजबूत पक्ष है कि यहाँ कार्तिक को बहुत पॉजिटिव दिखाया गया है। इस पूरे घटनाक्रम में कई बार ऐसा होता है कि कार्तिक को बेदखल किया जाता है। कई बार जब सरकार इस परियोजना में विफल होने लगती है तब कार्तिक को पूछा भी जाता है, परन्तु फिर उसे दुत्कार दिया जाता है। कार्तिक कई बार निराश होता है परन्तु वह हारता नहीं है और न ही वह सरकार को मदद करने में पीछे हटता है। कार्तिक का मानना है कि किसी भी तरह काम हो और आम आदमी को इसका फायदा मिले। वह सरकार के साथ किसी भी तरह इसे डील करने को तैयार है। इस लोकतन्त्र में इस बात के लिए निराश हुआ जा सकता है कि जिस सरकार को इस लोकतान्त्रिक राष्ट्र के लिए काम करना है, नहीं कर रही है परन्तु सुखद यह है कि इसी आम आदमी के भीतर से ऐसे लोग भी निकल रहे हैं जो इस समाज के लिए कुछ करना भी चाह रहे हैं।

इस उपन्यास को हमारे समय के राजनीतिक आख्यान-प्रतिआख्यान के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। लोकतान्त्रिक राष्ट्र में सरकारें किस तरह काम करती हैं। किस तरह राजनीति और पूँजीपतियों के बीच गठजोड़ है। किस तरह सरकार अब लोक-कल्याण के लिए नहीं, पूँजीपतियों के लिए काम कर रही है और किस तरह आम आदमी अपने समाज के लिए कुछ करना भी चाहे तो सरकार उसके सामने कैसे बाधा बनकर खड़ी होती है। इन सारे सवालों से यह उपन्यास सीधे-सीधे मुठभेड़ करता है। यह उपन्यास बहुत यथार्थवादी शिल्प में चलता है। प्रशासनिक स्तर पर समाज को किस तरह डील किया जाता है, यथार्थ का एक रूप यह भी है। सत्ता के अलग-अलग रूप समाज के हित के लिए जो योजनाएँ बनाते हैं उन योजनाओं का क्रियान्वयन किस तरह होता है और किस तरह उस क्रियान्वयन में अब लोक हित की जगह पूँजीपतियों के हित ने स्थान ले लिया है, इस उपन्यास के केन्द्र में यथार्थ का यह रूप है। समाज का जो यथार्थ है, गरीबी है, साम्प्रदायिकता है, जातिवाद है, स्त्री हिंसा है उस पर तो बहुत सारी रचनाएँ लिखी गयी हैं और लिखी जाती हैं। परन्तु यह जो समाज को लेकर प्रशासनिक यथार्थ है उस पर लिखना आसान नहीं है। यह एक ऐसा यथार्थ है जिसका अनुभव आम लेखक के यहाँ मिलना मुश्किल है। संतोष चौबे प्रशासनिक व्यक्ति रह चुके हैं तो

उनके पास यह अनुभव है और यह अनुभव रचना में उतरकर कुछ खास बन गया है। इस उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे प्रशासनिक सच्चाई या कहें षड्यन्त्र को लेखक ने बहुत करीब से महसूस किया है। इस अनुभव में एक सच्चाई है इसलिए यह उपन्यास काफी विश्वसनीय और पठनीय बन गया है।

यथार्थवादी उपन्यास के साथ-साथ इस उपन्यास में सपने और ब्लैक होल का इस्तेमाल कर उसे जादुई भी बनाया गया है। उपन्यास एक सपने से शुरू होता है और दूसरे सपने पर खत्म होता है। इन दोनों सपनों के बीच यथार्थ की एक पूरी प्रक्रिया है। एक कोरम पूरा होता है। पहले सपने से यथार्थ समझ में आने लगता है और दूसरे सपने तक में सम्पूर्ण यथार्थ का भान हो जाता है। वास्तव में यथार्थवादी रचना हमें समाज की भयावहता का बोध करवाती है परन्तु जादुई यथार्थवाद के सहारे उस यथार्थ को भी कहना सम्भव हो पाता है जिसे कहना आसान नहीं है। जादुई यथार्थ अपने शिल्प में पोएटिक होता है और यही कारण है कि वहाँ अर्थ के कई स्तर होते हैं।

पहला सपना टेलीविजन स्क्रीन से शुरू होता है जहाँ कार्तिक एक मन्त्री को देखता है जो उन कामों का भी श्रेय ले रहा है जिसे उसने किया भी नहीं। प्रशासन के अन्य लोग भी वहाँ साथ में बैठकर प्रेस कॉन्फ्रेंस कर रहे हैं। उस सपने के भीतर कार्तिक को गुस्सा आता है और वह उस टेलीविजन स्क्रीन के भीतर घुस जाता है और त्यागी का गला पकड़ कर सवाल पूछता है। तो यहाँ कार्तिक का जो सपना है वह एक आम आदमी के इस व्यवस्था के प्रति गुस्से को द्योतित कर रहा है। वह झकझोर कर इस व्यवस्था से समाज की इस बदहाली के लिए सवाल पूछना चाहता है। अभिषेक इस सपने की व्याख्या करता है कि ''सपने किसी व्यक्ति की अधूरी आकांक्षाओं का प्रतिफलन होते हैं।'' तो यह अधूरी आकांक्षा आम आदमी की ही है। यहाँ कार्तिक आम आदमी का प्रतिनिधित्व कर रहा है। परन्तु जब इस उपन्यास के अन्त तक पहुँचते हैं तब एक दूसरा सपना आता है। इस आखिरी सपने में ऐसे लगता है जैसे सभी जगहों से भटककर अन्त में आम आदमी को असली यथार्थ का भान हो गया है। यहाँ एक 'ऑटोमेशन मशीन' है जिसमें सारी रचनात्मकता, उर्वरता, कच्चा माल सब डाला जा रहा है और उधर से सब सूखा, बंजर में परिवर्तित होकर निकल रहा है। इस प्रसंग को पूरा पढ़ा जाना चाहिए। बार-बार पढ़ा जाना चाहिए। यह प्रसंग जादुई यथार्थ के शिल्प में आया है और हमारे लोकतन्त्र, हमारी पूरी व्यवस्था की पोल को खोलकर रख दे रहा है। कार्तिक कहता है– ''मेरे देखते ही देखते वह मशीन एक ऑटोमेशन में बदल गयी जिसमें पूरे देश

के देश डाले जा रहे थे, उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस ऑटोमेशन में खींचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश, उस मशीन में डाले जाते और इधर से बंजर भूमि, सूखे, रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल जैसा कुछ था जो उन्हें सोख रहा था।''

यह उपन्यास इसी यथार्थ को बयाँ करने के लिए लिखा गया है। आजादी के ख्वाब से लेकर इस ऑटोमेशन मशीन में बदल जाने की जो यह यात्रा है वह इस देश की सच्चाई है और जिसे सिर्फ साहित्य ही दर्ज कर सकता है। इस ऑटोमेशन मशीन ने पूरी रचनात्मकता को एक ब्लैक होल में डाल दिया है जहाँ सिर्फ अंधेरा है। यह अंधेरा आम आदमी के जीवन में पसरता जा रहा है। यह ब्लैक होल अपनी ओर खींचता है और फिर गायब कर देता है। समाज की पूरी रचनात्मकता, पूरी ऊर्जा पूरी शक्ति का यह दोहन कर लेता है और जो बचता है, वह सिर्फ और सिर्फ सूखापन है। इस शक्ति का इस्तेमाल पूँजीपतियों के हक में हो रहा है और पूरा तन्त्र इस वर्ग के शक्ति-संचय में, उसके अत्याचार, उसकी नृशंसता को वैधानिक बनाने में लगा हुआ है। सरकार अपनी नीतियों से पूरी ऊर्जा को इस ऑटोमेशन मशीन तक खींच कर ला रही है और उसे पूँजीपतियों के हित में परोस कर दे रही है। यह उपन्यास यथार्थवादी तरीके से, जादुई यथार्थवादी तरीके से अपने समय को, अपने समाज को, पूरी व्यवस्था को, व्यवस्था के अंधेरे कोने को प्रस्तुत कर रहा है। इस उपन्यास को एक वैकल्पिक इतिहास के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। इसे समाजशास्त्र की पुस्तकों के पूरक के रूप में भी पढ़ा जाना चाहिए। यह उपन्यास एक राजनीतिक उपन्यास तो है, परन्तु यह अलग मिजाज का राजनीतिक उपन्यास है। बिना शोर-शराबे के, बिना किसी खास राजनीतिक शक्ति को इंगित किए राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ को कैसे प्रस्तुत किया जाता है, यह उपन्यास उसका एक मनीखेज उदाहरण है।

❑

सपनों की दुनिया में ब्लैक होल : लोकतान्त्रिक राष्ट्र-राज्य की एक जुदा तस्वीर

जगन्नाथ दुबे

हिन्दी के चर्चित कवि-कथाकार संतोष चौबे के नए उपन्यास 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' से गुजरते हुए हम भारत के लोकतान्त्रिक राष्ट्र-राज्य की एक अलग ही तस्वीर देखते हैं। यह उपन्यास एक स्वप्न कथा से शुरू होता है और इसके अन्त में भी एक स्वप्न है। ये स्वप्न आखिर है क्या? उपन्यास की कथा-वस्तु पर ध्यान दें तो पाएँगे कि पहला स्वप्न जहाँ एक दु:स्वप्न के रूप में प्रकट होता है, वहीं दूसरा स्वप्न एक उम्मीद लेकर सामने आता है। इसका यह मतलब भी नहीं है कि दु:स्वप्न से शुरू हुआ उपन्यास एक सुखद उम्मीद के साथ खत्म हो जाता है। यह ठीक है कि एक उम्मीद है, लेकिन यह उम्मीद गहरे आत्मसंघर्ष से उपजी एक ऐसी रोशनी है, जिसमें सत्ता के चरित्र को ठीक-ठीक समझ लेने के बाद जन-आकांक्षाओं को सृजित कर लम्बे संघर्ष का रास्ता तय करने की कोशिश दिखाई देती है। इसलिए इस उपन्यास में नाउम्मीदी से उम्मीद की यात्रा तो है, लेकिन यह यात्रा किसी टाइप्ड स्टोरी की यात्रा नहीं, बल्कि कठिन जीवन स्थितियों के बीच से संघर्ष की यात्रा है।

उपन्यास की शुरुआत दो दोस्तों, अभिषेक बनर्जी और कार्तिक त्रिवेदी की मुलाकात से होती है। कथा के विकास क्रम में मालूम चलता है कि अभिषेक रंगमंच का आदमी है, जबकि कार्तिक देश के दुर्गम इलाकों में सामाजिक उद्यमी का काम करता है। मुलाकात में कार्तिक की मन:स्थितियों को देखकर उसकी परेशानी की वजह पूछता है। थोड़े न-नुकुर के बाद कार्तिक अपनी परेशानी की वजह एक स्वप्न को बताता है। स्वप्न क्या है? एक दु:स्वप्न जिसमें कार्तिक, टेलीविजन पर बैठे एक मन्त्री और उनके दो सहायकों के साथ ही, मीडिया के एक एंकर पर खफा होने की बात स्वीकार करता है। वह मन्त्री, उनके सहायकों

और मीडिया पर क्यों खफा है, शेष उपन्यास में इसी की पड़ताल की गई है। जैसा कि शुरू में कहा गया, कार्तिक सामाजिक उद्यमिता का काम करता है। अपने कठिन परिश्रम और इच्छाशक्ति के बल पर वह देश के एक हजार गाँवों में सामाजिक उद्यमिता का नेटवर्क फैला चुका था। उसके काम से प्रभावित होकर भारतीय प्रबन्धन संस्थान ने अपने संस्थान के बच्चों के लिए आयोजित 'इन्फॉर्मेशन टेक्नॉलॉजी की ताकत और ग्रामीण भारत' विषयक एक कार्यशाला में कार्तिक को प्रजेंटेशन के लिए बुलाया, जहाँ उसकी मुलाकात भारत सरकार के एक सचिव राजशेखर से हुई। यह वही दौर था जब भारत सरकार कम्प्यूटर क्रान्ति लेकर आई हुई थी और उसे जन-जन तक पहुँचाने के अपने लक्ष्य पर काम कर रही थी। राजशेखर को कार्तिक के प्रजेंटेशन में अपनी राह आसान होती दिखाई दी इसलिए उसने बाद में कार्तिक के साथ मीटिंग करने और उसके काम को फील्ड में जाकर देखने की योजना बनायी। इसी बीच कहानी में एक और चरित्र 'त्यागी' का प्रवेश होता है। त्यागी पहले एक एनजीओ चलाते थे। बाद में कम्प्यूटर से गाँव को जोड़ने वाली योजना में एक मुख्य किरदार के रूप में शामिल हो गये। यहाँ तक उपन्यास की कथा बहुत सीधे ढंग से चलती है जिसमें बीच-बीच में कार्तिक और राजशेखर की बातचीत के माध्यम से कथाकार यह दिखाने का प्रयास करता है कि सरकार के सोचने के तरीके में और एक सामाजिक उद्यमी जो फील्ड में जाकर काम कर रहा है, उसके सोचने के तरीके में, कैसे बुनियादी रूप से अन्तर आ जाता है। अपनी पहली ही मीटिंग में राजशेखर कहता है– ''सरकार उस तरह से नहीं सोच रही थी जैसा आपने सोचा।'' इसके जवाब में कार्तिक कहता है– ''जी, सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि सरकार तलाश तो एक ग्रामीण मॉडल की कर रही है पर सोच शहरों की तरह रही है। ...अगर सूचना क्रान्ति को गाँवों तक जाना है, कम्प्यूटरों को गाँवों तक जाना है तो हमें सबसे पहले गाँवों को समझना होगा।'' यहाँ आप देखेंगे कि कथाकार गाँवों के सन्दर्भ में वही बात कह रहा है जो बौद्धिक समाज का एक कॉमन परसेप्शन है कि गाँवों के निकास की बात करने वाली तमाम-तमाम सरकारें गाँवों को जानती-समझती ही नहीं हैं। लेकिन यहाँ यह भी कहना जरूरी है कि यह कॉमन परसेप्शन उपन्यास में जिस तरह व्यक्त हुआ है, उससे यह तथ्य और मजबूत होता है कि जिस देश के सत्तर फीसदी लोग गाँव में रहते हैं, उस देश की लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना का दावा करने वाली सरकारें गाँव को ही नहीं समझतीं। इस बात पर भी विचार किया जाना चाहिए कि हिन्दोस्तान का वह आखिरी नेता कौन था जो हिन्दोस्तान की आत्मा को, उसके

गाँवों को ठीक-ठीक समझता था? जवाब में हम महात्मा गाँधी, पं. नेहरू और लोहिया से आगे नहीं बढ़ पाते। यानी पिछले पाँच-छः दशक से इस देश की रहनुमाई करने वालों में से कोई इतने भरोसे का नहीं दिखाई देता जिसके बारे में यह कहा जा सके कि यही वह आदमी है जो इस देश की ग्रामीण संरचना के आधारभूत ढाँचे को बदलने/विकसित करने का काम कर सकता है।

राजशेखर और त्यागी, भारत सरकार की एक महत्वाकांक्षी योजना पर काम कर रहे हैं जो तकनीकी ज्ञान और कम्प्यूटर को ग्रामीण भारत तक पहुँचाने के उद्देश्य से बनाई गई है, जिसका राजनीतिक लाभ भी सरकार लेना चाहती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्तिक एक सर्वथा मुफीद व्यक्ति है। कार्तिक की सोच और उसके काम करने के अनुभव से जब राजशेखर और त्यागी पूर्ण परिचित हो जाते हैं, तब वे अपना असल रूप दिखाते हैं। तकनीकी विभाग के मन्त्री के समक्ष वे खुद को इस तरह पेश करते हैं जैसे यह पूरी कार्य-योजना उनकी बनाई हुई है। मन्त्री जी को भी इस योजना से राजनीतिक लाभ मिलता दिखाई देता है। ऐसे में उपन्यास नाटकीय मोड़ लेता है जहाँ कार्तिक के आइडिया की चोरी करके मन्त्री, राजशेखर और त्यागी, वर्ल्ड बैंक के सहयोग से योजना की शुरुआत करते हैं। बीच-बीच में कार्तिक इन चरित्रों से परिचित होने के क्रम में यह समझने लगता है कि वे इसका इस्तेमाल कर रहे हैं, लेकिन मानवीय मूल्य और इस आकांक्षा में कि शायद अन्ततः कुछ हासिल हो जाए कि इनके द्वारा बुलाये जाने पर मीटिंग्स में हिस्सा लेने पहुँच जाता है। योजना का ब्लूप्रिन्ट तैयार होने के बाद उसे पीपीपी मॉडल पर विकसित किया जाता है जिसके लिए टेण्डर भरना अनिवार्य है। कार्तिक जो कि यह सोच रहा था कि उसके समझ, अनुभव और कार्यकुशलता को देखते हुए कोई महत्वपूर्ण जिम्मेदारी दी जाएगी, उसे भी टेण्डर के हिसाब से ही 'जन सुविधा केन्द्र' खोलने की स्वीकृत मिली। चूँकि कार्तिक इस क्षेत्र में लम्बे समय से काम कर रहा था इसलिए उसने अपने अनुभव का लाभ उठाकर अपने केन्द्रों को एक बेहतर सेवा-प्रदाता के रूप में विकसित कर लिया, जबकि दूसरे तमाम लोग केन्द्र सरकार का मुँह देखते रहे और सरकार थी कि उसके पास देने के लिए कुछ भी नहीं था। अन्ततः जब 'जन सेवा केन्द्रों' के संचालकों ने सुविधाएँ माँगी तो सरकारी सेवाएँ प्रदान किये बगैर उल्टे टेण्डर के नियम के अनुसार उन केन्द्रों से पेनल्टी वसूलने का आदेश जारी हो गया। यही वह बिन्दु है जब कार्तिक को शुरुआत में बताये गये सपने आने शुरू हुए।

उपन्यास के इस पूरे कथा वितान पर विचार करें तो भारतीय लोकतन्त्र की एक

निद्रूप तस्वीर हमारे सामने आती है जिसमें सत्ता संरचना की भूमिका की समझ भी विकसित होती हुई दिखाई देती है। इस उपन्यास को पढ़ते हुए मुझे लगता है कि एक लोकतान्त्रिक देश की सत्ता-संरचना किस तरह काम करती है, यह इस उपन्यास के केन्द्र में है। इस देश के पास उर्वर और रचनात्मक दिमाग की कोई कमी नहीं है, कमी है तो उसका रचनात्मक उपयोग करने वाली सत्ता की। हम लम्बे समय से यह सुनते आ रहे हैं कि दुनिया की सर्वाधिक युवा आबादी हिन्दोस्तान के पास है, लेकिन सवाल यह है कि उस युवा आबादी के जज्बे, जोश, जुनून और रचनात्मक मस्तिष्क का उपयोग कौन करेगा और कब होगा? युवा शक्ति अगर रोजगार रहित होगी, उसे अपने हुनर को दिखाने का अवसर नहीं मिलेगा तो वह करेगी भी तो क्या? इस देश में लाखों कार्तिक हैं जिन्हें उपयुक्त अवसर और सुविधाएँ मिलें तो वे वह सब कर सकते हैं जिससे वाकई देश की तस्वीर बदल जाए, लेकिन उनके साथ हो क्या रहा है? यह उपन्यास इस बात को भी प्रमुखता से रेखांकित करता है। कार्तिक के पास भारत के ग्रामीण और सुदूर आदिवासी इलाकों में काम करने का अनुभव और समझ है। एक ऐसी परियोजना जो भारत की ग्रामीण-संरचना की सही समझ के साथ लागू की जाए तो भारत अलग तरह का दिखने लगे, पर सत्ता उस सही समझ का इस्तेमाल उसी हद तक करती है जिस हद तक उसे कोई चुनौती न मिलने लगे। उपन्यास में व्यक्तिगत प्रयास और सरकारी काम के बीच का अन्तर बताते हुए उपन्यासकार एक बेहद महत्वपूर्ण तथ्य की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करता है। जो योजना कार्तिक जैसे युवाओं के व्यक्तिगत प्रयास से एक आन्दोलन का रूप अख्तियार कर रही थी वही जब सत्ता के नियन्त्रण में आ जाती है तो मात्र एक परियोजना रह जाती है।

उपन्यास में लिखा है– 'पहले वह आंदोलन था, अब परियोजना बन गयी'। ये जो आंदोलन का परियोजना बन जाना है, असल में सारी समस्या की जड़ यही है। सत्ता के मूल चरित्र और उसकी स्थिति को बताते हुए कथाकार लिखता है– 'प्रत्येक सरकार दो-तीन साल में अपने आपको बाँझ महसूस करने लगती है, जबकि जनता रचनात्मक बनी रहती है। रचनात्मक बने रहना जनता की जरूरत भी है और फितरत भी। फिर कोई रचनात्मक प्रयोग बड़ा हो जाता है। सरकार, जिसकी निगाह हर समय ऐसे प्रयोगों पर रहती है, उसे लपक लेती है। फिर वह उसे और बड़ा करती है, इतना कि वह मूल प्रयोगकर्ता के हाथ से निकल जाए फिर वह उसे हथिया लेती है।'' कार्तिक के प्रयोग के साथ भी यही हुआ। उसे हथिया लिया गया। राजनीतिक दल और सरकारें अन्ततः क्या चाहती हैं, इसका भी पर्याप्त

विवेचन इस उपन्यास में मिलता है। मन्त्री जी अपने सेक्रेटरी से कहते हैं– ''देखिए, हमें किसी भी हालत में इस प्रोजेक्ट को सफल बनाना है। मैं प्रधानमन्त्री जी को इसके महत्व के बारे में बता चुका हूँ। यदि ये सफल हुआ तो सरकार की पहुँच सीधे एक लाख पंचायतों तक हो जाएगी। आप जो भी ठीक समझें करें, पर इसे फेल मत होने दीजिएगा।'' अब यहाँ सवाल है कि किसी भी प्रोजेक्ट की सफलता-असफलता का पैमाना क्या है? तो कार्तिक जैसे उद्यमी के लिए जहाँ इसकी सफलता का मानक है, बेहतर सेवाएँ प्रदान करना; वहीं सरकार की सफलता का पैमाना है, इसकी पहुँच हो जाना। अगर ऐसा न होता तो एक ऐसा व्यक्ति जो भारतीय गाँवों को समझता है, जिसने भारतीय गाँव में रहकर इसी सेवा में लम्बे समय तक काम किया है। उसे परे करके योजना की सफलता का ढिंढोरा न पीटा जाता। कथाकार यहाँ आकर एक स्तर पर भारतीय लोकतन्त्र, अफसरशाही और राजनीति तीनों को कटघरे में खड़ा करता है। वह छोटे-छोटे व्यक्तिगत प्रयासों से शुरू किए गए उद्यमिता कौशल को महत्व देता है क्योंकि उसका ऐसा मानना है कि ये सीधे जनता से जुड़े होने की वजह से जन-हितैषी होते हैं, जबकि बड़े-बड़े दरबारी पूँजीपति सत्ता की साँठ-गाँठ से अपनी निजी सम्पत्ति बढ़ाने का काम करते हैं।

उपन्यास की कथा संरचना पर तब तक कोई बात पूरी नहीं हो सकती जब तक कि कार्तिक के आखिरी स्वप्न की चर्चा न की जाए। यही वह स्वप्न है जिसे देखने के बाद वह निश्चय करता है कि वह अब अपने आप को इस योजना से अलग करके कुछ अलग करेगा। वह क्या अलग करेगा, इसकी चर्चा आगे होगी, लेकिन पहले उसके स्वप्न की बात। कार्तिक का स्वप्न जो उसने देखा है– ''मैंने देखा कि एक विशालकाय मशीन है जो दमन-भट्टी की तरह है, जिसमें एक ओर से बहुत से मनुष्य डाले जा रहे हैं। छोटे शहरों के, गाँवों के, हमारे केन्द्रों की तरह के युवा और दूसरी ओर से पूँजी निकल रही है। सतत प्रवाह के रूप में, जो पता नहीं, किन अदृश्य हाथों में जाकर गुम हो जाती हैं। मेरे देखते ही देखते वह मशीन एक ऑटोमेटन में बदल गयी। जिसमें पूरे देश के देश डाले जा रहे थे; उनकी पूँजी, उनका कच्चा माल, उनके आदमी और वे सब उस ऑटोमेटन में खींचे जाकर गुम होते जा रहे थे। इधर से हँसते-खेलते मनुष्य, हँसते-खेलते देश, उस मशीन में डाले जाते और उधर से बंजर भूमि, सूखे, रसहीन मनुष्य और पूँजी का ढेर निकलता। एक ब्लैक होल जैसा कुछ था जो उन्हें सोख रहा था। अन्ततः वह विशालकाय मशीन एक ब्लैक होल में ही परिवर्तित हो गयी और उसके दूसरी ओर क्या हो

रहा है, यह दिखना बन्द हो गया।'' कार्तिक का यह सपना असल में उपन्यास का वह बिन्दु है जहाँ से उपन्यास की पूरी कथा खुल जाती है। यह मशीन क्या है जो मनुष्यों को, गाँवों को और देश के देश को निगलती जा रही है? यह मशीन उस सत्ता संरचना की प्रतीक भी है जिसने कार्तिक जैसे युवाओं के भविष्य के साथ खिलवाड़ किया है। यह मशीन उस कॉरपोरेट पूँजी की भी प्रतीक है जिसने इस देश के गाँवों, नदियों, पहाड़ों और जंगलों को बर्बाद करके रख दिया है। आधुनिकता और प्रगति के नाम पर गलत रास्ते अपनाने वाली वह पूरी व्यवस्था इस मशीन का प्रतीक है जिसने मानवीय जीवन की गरिमा और देश की मूलभूत संरचना को नष्ट करने का काम किया है। लेकिन कथाकार इस सारी विपरीत परिस्थिति के बावजूद एक उम्मीद के साथ जीता है। उम्मीद जो नन्दिता के शब्दों में इस प्रकार है– ''कार्तिक तुमने ब्लैक होल की बात की थी। तो हमें यह भी तो मालूम है कि जो चीजें ब्लैक होल के पास जाती हैं, वह उन्हें अपने अन्दर खींच लेता है। समाधान ब्लैक होल से दूर रहने में है। आप उससे उतना दूर रहें कि उसका गुरुत्वाकर्षण आपको प्रभावित न करे।'' ब्लैक होल से दूरी, असल में उस पूरी संरचना से दूरी है जिसकी नींव शोषण और दमन पर आधारित है। यहाँ आप देखें तो कथाकार सत्ता-संरचना को ब्लैक होल के रूप में चित्रित करके उससे मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त करता है।

भारतीय उपन्यास की जो समझदारी है, उस अर्थ में मुझे यह उपन्यास की बजाय एक लम्बी कहानी लगता है, भले ही इसका प्रकाशन एक उपन्यास के रूप में हुआ हो। यह बात सही है कि हिन्दी उपन्यास और कहानी का जो विधागत बँटवारा है वह पश्चिम की समझ का नतीजा है। इस उपन्यास का घटनाक्रम और इसकी पूरी संरचना एक लम्बी कहानी की तरह है। हालाँकि इसमें जिस तरह चरित्रों की उपस्थिति और भूगोल की विविधता है, उससे कोई भी सहज ही यह मान लेने को तैयार हो जाएगा कि यह एक उपन्यास है, लेकिन सवाल है कि क्या सिर्फ इन विशेषताओं की वजह से किसी रचना को उपन्यास कहा जा सकता है? दूसरी बात यह कि यह उपन्यास उस अर्थ में यथार्थवादी उपन्यास भी नहीं है, जिस अर्थ में हम यथार्थवादी उपन्यास की चर्चा करते हैं। इसकी घटनाएँ, चरित्र और वर्णन शैली एक कथाकार की न होकर एक समाज-विज्ञानी की हैं, ऐसा इसे पढ़ते हुए लगता है। इसका यथार्थवाद कुछ-कुछ उस तरह है जैसे यथार्थवादी नाटकों में चौथी दीवार हटाने की बात कही गयी है। यानी बिलकुल आईने की तरह जिसमें आप अपना समय और समाज हू-ब-हू देख सकें। उपन्यास की भाषा अलग से

प्रभावित करती है, अपनी सहजता और प्रसंगानुकूलता की वजह से। भाषा के स्तर पर जहाँ इसमें एक तरफ हिन्दी के साथ अँग्रेजीदाँ लोगों के प्रयोग को शामिल किया गया है, वहीं क्षेत्रीयता की छौंक भी दिखाई देती है। एक ऐसे समय में जब सत्ता और कारपोरेट की मिली-भगत हिन्दुस्तान को खोखला करने पर आमादा है, तब इस पूरी संरचना को ब्लैक होल के रूप में चित्रित करना बेहद महत्वपूर्ण और जरूरी कार्य है। यह उपन्यास इस कार्य को करने में पूरी तरह सफल हुआ है, यह कहने में कोई हर्ज नहीं है।

❑

षड्यन्त्रों के मकड़जाल में उलझे सपनों का आख्यान

डॉ. ऋतु भनोट

अभावों, संघर्षों और परेशानियों से घिरी हुई इस दुनिया में इंसान को कड़वे यथार्थ के कठोर धरातल से अगर कुछ देर के लिये कोई चीज निजात दिलाती है तो वह है– नींद, भले ही अल्प-अवधि के लिये ही सही, नींद में मनुष्य सब कुछ भूल जाता है और जब जागता है तो एक बार फिर से परिस्थितियों से लोहा लेने के लिये अपनी कमर कस लेता है। ठीक इसी तरह जब हालात प्रतिकूल हों, मन्जिल तक पहुँचने की सारी सम्भावनाएँ धूमिल हो चुकी हों, तो पलकों की बन्दनवार में पलने वाले सपने इंसान को निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। लेकिन मुश्किल तब दरपेश होती है जब न तो नींद आती है और न ही सपने जिन्दा रहते हैं। 'सपनों की दुनिया में ब्लैक होल' ऐसी ही असम्भव परिस्थितियों से टक्कर लेने वाले उत्साही नवयुवक कार्तिक के संघर्ष और उसके सपनों को ब्लैक होल बनकर निगल जाने वाले सरकारी तन्त्र के षड्यन्त्रों की विचारोत्तेजक कथा है।

प्रस्तुत उपन्यास दो मित्रों-अभिषेक बैनर्जी और कार्तिक त्रिवेदी के वार्तालाप से शुरू होकर फ्लैशबैक पद्धति में कार्तिक-कथा के रूप में विकसित होता है। उपन्यास का फलक दो मित्रों के निजी संसार से ऊपर उठकर पूरे भारत की युवा शक्ति तक विस्तार पाता है, युवा शक्ति, जिनकी आँखों में अनन्त सपने हैं और उन सपनों को पूरा करने की जिद ही जिनके जिन्दा रहने का आधार है। भारतीय युवाओं में असंख्य सम्भावनाएँ हैं– अगर उन्हें सही दिशा मिल सके और अगर उनकी सम्भावनाओं को यथार्थ की जमीन पर साकार होने के अवसर मिल सकें तो ऐसा कौन-सा आकाश है जो वह नहीं नाप सकें? लेकिन यह इस देश का दुर्भाग्य है कि युवाओं का भविष्य जिन हाथों में गिरवी पड़ा है, वह हाथ उनका सम्बल बनने की अपेक्षा उनके सपनों को ब्लैक होल बनकर निगल रहे हैं। जैसे ब्लैक होल

अपने निकट आने वाली हर चीज को निगल जाता है और जो भी उसके भीतर जाता है, कभी लौटकर नहीं आता, वैसे ही सरकार और शासन तन्त्र के छलावों के चक्रव्यूह में उलझे नवयुवक अपने सपनों और यथार्थ के ताने-बाने में मकड़ी की तरह फँसकर रह जाते हैं।

दस साल पहले जो कार्तिक सपने बुनता था और सपनों को पूरा करने का जुनून ही जिसकी जिजीविषा की संजीवनी था, वही कार्तिक अब सपनों से डरने लग पड़ा था। जैसे ही परिस्थितियों और षड्यन्त्रों का चेहरा बदलता, कार्तिक के सपने भी बदलने लगते। कभी वह सपना देखता कि उसकी गाड़ी छूट गयी है, कभी वह अनजान चेहरों की भीड़ में अनजान गलियों और किलों में गुम हो जाता। कभी उसे सपना आता कि वह तैयारी किसी और परचे की करके गया है, लेकिन उसे परचा किसी और विषय का देना है। कार्तिक त्रिवेदी अपने सपनों से आतंकित रहने लगा था और किसी भी तरह उनकी गिरफ्त से बाहर आना चाहता था।

सरकार के कुछ आला अफसरों द्वारा उसकी योजनाओं को हैक करके, उसके विचारों पर सरकारी लेबल लगाकर वर्ल्ड बैंक से अरबों-खरबों रुपए का अनुदान ले लिया गया, लेकिन पूरी योजना में कार्तिक का कहीं नामोनिशान भी नहीं था। वह शासन के क्रूर खेल को थोड़ा-बहुत समझता तो था, लेकिन न तो वह परास्त होकर हथियार डालना चाहता था और न ही बार-बार अपने रचनात्मक विचारों का श्रेय सरकारी मशीनरी को हथियाने देना चाहता था। क्या करे और क्या न करे की दुविधा उसे दिन-रात मथती रहती थी। कार्तिक के सपने मीडिया द्वारा प्रायोजित सपनों-जैसे नहीं थे, जिनमें रिश्तों और खुशहाल जीवन की बुनियाद किसी विशेष ब्रांड की कार, टेलीविजन, किसी विशेष पॉलिसी अथवा बच्चों को तथाकथित रूप से स्मार्ट बनाने वाले ऐप पर टिका दी जाती है। कार्तिक का सपना भारत के सात लाख गाँवों की ढाई लाख पंचायतों के द्वारा देश का कायापलट करने का था। वह अकेला एक हजार पंचायतों तक पहुँचने में कामयाब हो चुका था, लेकिन अपने कार्यक्रम को देशव्यापी रूप देने के लिये उसे सरकारी मदद की दरकार थी। बहुत बार उसे लगा कि अब उसका सपना पूरा होने की कगार पर है लेकिन हर बार उसे छला गया और यह छलावे ही जैसे उसके सपनों के हासिल बनकर रह गये।

कार्तिक एक सफल सामाजिक उद्यमी था, वह इन्फार्मेशन टेक्नोलॉजी की ताकत के द्वारा ग्रामीण भारत को आत्मनिर्भर बनाना चाहता था। उसका मानना था कि कम्प्यूटर तकनीक का विस्तार गाँवों तक करने के लिये हिन्दी और भारतीय भाषाओं में यह ज्ञान देना होगा। उसे लगता था कि किसी भी ग्रामीण उपक्रम को

मल्टीपरपज बनाये बिना उसे सफल नहीं बनाया जा सकता। सरकार के आला अफसर, राजशेखर और अशोक पांडेय उसके कार्यक्रम और उसके काम करने के तरीकों को समझने की गरज से उसके पास आते, वह उसकी टीम के सभी साथियों के विचार सुनते, उनके विचारों को चुराकर अपनी समस्याओं का हल खोजते और बाद में यूँ गायब हो जाते जैसे कि उनसे कोई राब्ता ही न हो। कार्तिक की टीम में भिलाई, छतरपुर, भिंड, बैतूल इत्यादि अलग-अलग जगहों के युवा शामिल थे। इन युवाओं के पास बहुत से नये-नये विचार थे जो स्थानीय जरूरतों को समझने के साथ-साथ, वहाँ की समस्याओं के बेहद कारगर उपाय ढूँढ़ने में माहिर थे। कहीं बिजली पूरी नहीं पड़ती थी और कहीं यातायात के साधन कम थे, लेकिन इन युवाओं ने अपने उत्साह और दूरदर्शिता से न सिर्फ सभी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ निकाला था अपितु आमदनी के बढ़िया स्त्रोत भी पैदा कर लिये थे। वह सीमित संसाधनों में बहुत कुछ कर रहे थे और अभी आगे बहुत कुछ करना चाहते थे, लेकिन सरकार के लिये न तो उनके सपनों की कोई अहमियत थी और न ही उनके प्रयासों की। वह उनके लिये लुभावनी योजनाओं का आँकड़ा भर थे, जिनके दम पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देश का नाम रोशन किया जा सकता था, भले ही देश का नाम चमकाने की आड़ में नौजवान पीढ़ी के भविष्य को ही अतल अँधेरे में क्यों न डुबोना पड़े।

सरकारी अफसरशाही ने कार्तिक के साथ बार-बार धोखा किया। वह हर बार इस विश्वासघात को पचा गया, उसने भरपूर कोशिश की कि वह किसी भी तरह का श्रेय अथवा केन्द्रीय स्थान न मिलने पर भी लोगों के हित के लिये काम करता रहे, लेकिन सरकारी भूल-भुलैया में भटका कर उसे ऐसे मोड़ पर ला खड़ा कर दिया गया, जहाँ से आगे कोई रास्ता किसी दिशा में नहीं जाता था। सरकारी अफसरों को जब-जब योजनाएँ डूबती हुई नजर आतीं या फिर वह लोगों के सवालों में घिर जाते, तब-तब अपनी साख बचाने के लिये वह कार्तिक को आगे कर देते। जब समस्या का समाधान हो जाता, लोगों का विश्वास जम जाता, उनके सारे संशय दूर हो जाते तो उसे फिर दूध से मक्खी की तरह निकाल दिया जाता। यह खेल कई सालों तक जारी रहा, सरकार द्वारा इन परियोजनाओं को पी.पी.पी. यानी पब्लिक-प्राइवेट-पार्टनरशिप का नाम देकर जनता को भुलावे में रखा गया। कार्तिक सरकार के रवैये से बार-बार आहत होता, लेकिन काम में डूबते ही वह सब कुछ भूल जाता। निजी परेशानियों को भुलाने का एक ही मूलमन्त्र उसे पता था और वह था—कर्म। कर्म करना उसके लिये साँस लेने जैसा ही जरूरी था।

वह कुछ भी करके पिछड़े क्षेत्र के लोगों को मुख्यधारा से जोड़ना चाहता था। उसने पिछड़े क्षेत्रों की चुनौतियों से निपटने के लिये धार्मिक यात्रा की तर्ज पर आई. टी. यात्रा निकालने के लिहाज से सौर ऊर्जा से चालित विशेष वैन तैयार की थी। वह और उसकी टीम के लोग दूर-दराज के क्षेत्रों में जाते और लोगों को कम्प्यूटर शिक्षा देने की कोशिश करते। कार्तिक दिन-रात काम में या फिर काम की योजनाओं में डूबा रहता, लेकिन उसके मन की कसक जाती ही नहीं थीं। वह बहुत कोशिश करता लेकिन सरकारी चालबाजियाँ उसकी समझ से परे ही रहती थीं। वह यह सोचकर परेशान रहता था कि सरकार उन कामों का श्रेय क्यों लेना चाहती है, जो उसने कभी किये ही नहीं। सरकार योजनाएँ बनाती हैं, टेंडर भरती है, झूठे दावे करती है, लेकिन वास्तव में कुछ नहीं करती। बड़ी मछलियाँ अरबों रुपयों का गबन करके देश छोड़कर भागने में सफल हो जाती हैं, लेकिन गरीब और साधनहीन लोग सरकारी जुर्माना भरने के लिये अपनी जमा-पूँजी भी लुटाने पर मजबूर हैं। उसे सारा खेल तब समझ में आया जब अवस्थी ने उसे बताया कि 'प्रत्येक सरकार दो-तीन साल में अपने आप को बाँझ महसूस करने लगती है, जबकि जनता रचनात्मक बनी रहती है, रचनात्मक बने रहना जनता की जरूरत भी है और फितरत भी। फिर कोई रचनात्मक प्रयोग बड़ा हो जाता है और सरकार, जिसकी निगाह हर समय ऐसे प्रयोगों पर रहती है, उसे लपक लेती है, फिर वह उसे और बड़ा करती है, इतना कि वह मूल प्रयोगकर्ता के हाथ से निकल जाये, फिर वह उसे हथिया लेती है।' (पृष्ठ 113)। अन्दर की बात समझते ही कार्तिक के मन पर छाया हुआ कुहासा छँट गया। उसे सब कुछ साफ-साफ दिखाई देने लगा। लेकिन बुरे सपनों से उसका छुटकारा तब हुआ जब नंदिता ने उसे समझाया कि जैसे अन्तरिक्ष यात्री ब्लैक होल से स्वयं को बचाकर रखते हैं, वैसे ही युवाओं को नकारात्मक शक्तियों रूपी ब्लैक होल के गुरुत्वाकर्षण से स्वयं को बचाकर रखना चाहिए। वह उसे समझाती है कि दुनिया से नकारात्मकता को मिटाया नहीं जा सकता, लेकिन नकारात्मकता से स्वयं को तो बचाया जा सकता है। सच भी है कि इस संसार से बुराई को हमेशा के लिये दूर नहीं किया जा सकता। लेकिन बुराई और नकारात्मकता से स्वयं को बचाकर अपने कर्म पथ पर अडिग तो रहा जा सकता है। सपने देखना छोड़ देना तो कोई हल नहीं और न ही सपनों के सच न होने पर यकीन करना छोड़ देना इसका समाधान है, विकल्प मात्र इतना ही है कि हमारी आँखों में सपने भी बचे रहें और दुनिया की तमाम नकारात्मकता और भयावहता के बावजूद खूबसूरती और सकारात्मकता पर हमारा विश्वास भी बचा रहे। यूँ भी यह उपन्यास समाज, सरकार

और व्यवस्था की चालबाजियों के प्रति सचेत करने की सार्थक पहल के साथ–साथ सपने बुनने की इच्छा और उन्हें साकार करने के उत्साह से भरपूर लोगों की जिजीविषा का प्रेरणादायक आख्यान है।

❑